भारतीय परम्परा में काम पुरुषार्थ

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र

खण्ड 1 : राष्ट्रीय समस्याएं और इतिहास

खण्ड 2 : महापुरुष : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

खण्ड 3 : धर्म-दर्शन-संस्कृति-उत्सव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान

खण्ड 4 : वेदान्त दर्शन की वैज्ञानिकता

खण्ड 5 : गीता दर्शन की सार्वभौमिकता

प्रकाशक एवं वितरक :
स्वामी संवित् सुबोधगिरि
श्री नृसिंह भवन
संन्यास आश्रम, भक्तानन्द शिव मन्दिर
भीनासर 334403
बीकानेर (राजस्थान)
मो. : 09413769139

ISBN 978-93-84133-18-4

अन्य पुस्तक प्राप्ति स्थान :

श्री सुशील कुमार ताम्बी
प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र
A/3 आर्य नगर
एन.के. पब्लिक स्कूल के पास
मुरलीपुरा, जयपुर 302039
फोन : 0141-2233765
मो. : 09829547773

ज्ञान गंगा प्रकाशन
पाथेय भवन,
बी-19, न्यू कॉलोनी, जयपुर
दूरभाष : 0141-2371563

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना
आप्टे भवन, केशव कुंज, झण्डेवाला
नई दिल्ली 110055
फोन : 011-23675667

जागृति प्रकाशन
श्री कृष्णानन्द सागर
एफ-109, सेक्टर-27, नोएडा 201301
दूरभाष : 0120-2538101
मो. : 09871143768

प्रथम संस्करण : 2017 ई.

प्रतियां : 1100

मूल्य : चालीस रुपये मात्र

मुद्रक :
सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

BHARATIY PARAMPARA MEN KAM PURUSHARTH
Edited by Swami Samvit Subodhgiri ₹ 40

प्रकाशकीय

सेमिटिक परम्परा और पाश्चात्य आधुनिक चिंतन में जो 'काम तत्त्व' का अध्ययन हुआ है वह एकांगिता को लिए हुए आधा-अधूरा है, विकृति को लिए हुए है। अतः वह न सम्यक् रूप से काम उपभोग और न सम्यक् रूप से काम उपरामता में ले जाने में सक्षम है। इसका दुष्परिणाम पूरा पाश्चात्य जगत् भोग रहा है जिसका प्रभाव भारत में भी पड़ रहा है। 'काम तत्त्व' का सम्यक् एवं सर्वाङ्गीण अध्ययन भारतीय परम्परा में हो सका है जिससे हम काम के सम्यक् उपभोग और सम्यक् उपरामता में समर्थ सिद्ध हो परम पुरुषार्थ मोक्ष के अधिकारी बन देश-समाज और पूरे विश्व की सर्वोच्च भलाई में अपने जीवन का विनियोग कर उस की महक, जीवन की मधुर-मधुर मुसकान, सर्वत्र बिखेर सके हैं।

यद्यपि यह लेख मैंने स्वयं के उपयोग के लिए लिखा था, जब मैंने यह निश्चय कर लिया था मुझे पारिवारिक जीवन में नहीं जाना, संघ के प्रचारक के नाते हिन्दू समाज के संगठन के लिए कार्य करना है। इसी समय मेरी छोटी बहन के देवर जो डॉ. हैं काम के संदर्भ में कई जिज्ञासाएं मुझ से की। तो उसको उत्तर देने के लिए तथा स्वयं मैं काम से कैसे उबर सकता हूं? इसका उत्तर ढूंढ़ने के लिए पढ़ना शुरू किया। बहुत अध्ययन-मनन के बाद स्वयं के उपयोग के लिए व बहन के देवर को उत्तर देने के लिए यह लेख लिखा था। यह मेरा पहला लेख है। अन्यों के लिए भी उपयोगी हो सकता है इस दृष्टि से प्रकाशित कर रहा हूं।

यह लघु पुस्तिका परम पूज्य मेरे गुरुदेव स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज के आशीर्वाद एवं सांखला प्रिंटर्स के प्रिटिंग कार्य में सहयोग से प्रकाशित हो रही है।

शिवाकांक्षी

स्वामी संवित् सुबोधगिरि

मो. 09413769139

अनुक्रम

ईसाइयत के अनुसार काम की उत्पत्ति

बाइबिल तथा कुरान में शैतान की कल्पना की गयी है जो गॉड या खुदा का बड़ा शत्रु है तथा खुदा से निरन्तर संघर्षरत है। दोनों धर्म पुस्तक हमें यह उपदेश देती है कि अपने नेक कर्मों के द्वारा खुदा की मदद करनी चाहिये ताकि कहीं शैतान उसकी पीठ न लगा दे।

इस शैतान के बहकावे में आकर आदम और हौवा ने ज्ञान वृक्ष के निषिद्ध फल को खा लिया उसी से उन्हें अपने स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व का बोध हुआ, इससे पूर्व वे नंगे थे। उनमें स्त्री-पुरुष के भेद का ज्ञान ही नहीं था। फल खाते ही उन्हें स्त्री-पुरुष के भेद का ज्ञान हुआ, लज्जा का बोध हुआ और अपने गुप्त अंगों को वृक्ष के पत्तों से ढक लिया। और इन्हीं आदम और हौवा से संसार का आरम्भ हुआ और पाप का भी प्रादुर्भाव हुआ।

यह 'फस्ट फोल' पहला पतन कहलाता है। आदम हौवा के मन में काम-वासना पैदा हुई और वहीं से मनुष्य जाति का पतन प्रारम्भ हुआ।

इस प्रकार संसार के जन्म की कहानी पाप से प्रारम्भ होती है और इसी से सारी मानव जाति पाप ग्रसित है। मनुष्य जन्मजात पापी है, वह पाप वृत्तियों को लेकर ही पैदा होता है। इसी मौलिक पाप के कारण मनुष्य जो कुछ करता है वह पाप प्रधान होता है। इनके यहां मातृ जाति को बड़ी हेय दृष्टि से देखा गया है क्योंकि यही हमें पाप के संसार में लाने वाली है। स्त्री में यह आत्मा भी नहीं मानते क्योंकि उसकी निर्मिति आदम की एक पसली निकालकर की गयी है, जो मनुष्य के उपभोग के लिए, मनोरंजन एवं सेवा के लिए है।

ईसाइयत ने आदम हौवा के पाप को सारी मानव जाति पर चढ़ा दिया। सम्भवतः फ्रायड ने भी इससे प्रभावित होकर Oedipus Complex को सारी मानव जाति पर लाद दिया।

फ्रायड के अनुसार काम—फ्रायड के अनुसार कामवासना ही मानव मात्र की एकमात्र जीवन प्रवृत्ति है। Life instinct है। इसके विरुद्ध जो कुछ है वह मृत्यु प्रवृत्ति Death instinct है। फ्रायड सब प्रवृत्तियों के पीछे काम प्रवृत्ति का

ही दर्शन करता है। वह माता-पुत्र, पिता-पुत्री, भाई-बहन के प्रेम में भी काम प्रवृत्ति का ही दर्शन करता है।

फ्रायड का मत है कि हर बच्चे के अचेतन मन में एक प्रवृत्ति सुप्त रहती है जिसे Oedipus Complex कहते हैं। Oedipus नामक यूनानी योद्धा था, जो ग्रीक पुराण का व्यक्ति है। एडिपस थिबिस के राजा लायस का बेटा था। एडिपस के जन्म के पहले ही ज्योतिषियों ने कहा था, लायस अपने पुत्र के हाथों मारा जायेगा। इसलिए राजा ने आज्ञा दी कि बच्चा पैदा होते ही मार डाला जाये। पर माता ने ममतावश ऐसा होने नहीं दिया और उसने बच्चे को विश्वस्त नौकर के हाथ पहाड़ पर रखवा दिया। वहां बच्चे को असहाय पाकर एक गडरिये को दया आ गयी और उसने उसका पालन-पोषण किया। बाद में बड़े होने पर एडिपस न जानते हुए पिता को मार कर उसने रानी से यानी अपनी असल मां से विवाह कर लिया। भेद खुलने पर एडिपस ने अपनी आंखें फोड़ ली और रानी ने आत्महत्या कर ली। फ्रायड का मत है हर बच्चे के मन में माता के प्रति प्रेम के पीछे यही प्रवृत्ति सोयी पड़ी रहती है कि वह पिता को निरस्त कर अपनी माता से काम तृप्ति चाहता है। इस प्रकार फ्रायड ने प्रत्येक मानव को मां-बहन की गाली निकाल दी।

फ्रायड यहां तक कहता है बहुत समय से लोग सृष्टिकर्ता ईश्वर की खोज करते चले आये हैं किन्तु आज तक उसे नहीं पा सके। मैंने उस ईश्वर को ढूंढ़ लिया है, उनके कान को पकड़कर सिंहासन से नीचे गिरा दिया और उसके स्थान पर काम (सैक्स) को प्रतिष्ठित कर दिया जो वास्तविक सृष्टिकर्ता है।

फ्रायड मानव मन को तीन स्तरों में बांटता है—चेतन, अवचेतन, अचेतन। जिन कामनाओं को हम सामाजिक मर्यादा या अपनी मजबूरी के कारण पूरी नहीं कर पाते, उसे दबा देते हैं, पर वह नष्ट नहीं होती और अचेतन मन में जमा होती जाती है और अपनी इच्छापूर्ति के लिए घात लगाये बैठी रहती है।

इसके अनुसार इन्हें दबाया नहीं जाना चाहिये नहीं तो अनेक शारीरिक, मानसिक कुण्ठाओं, बीमारियों को जन्म देती है। इनके अनुसार यौन इच्छा स्वाभाविक है और उसकी पूर्ति अवश्य होनी चाहिये स्वस्थ रहने के लिए। क्योंकि मनुष्य प्रथम एवं अन्तिम रूप से जैविक प्राणी है उसकी संतुष्टि अवश्य होनी चाहिये। इससे ऊपर उठने की चेष्टा व्यर्थ और अस्वाभाविक है। इसमें पाप-पुण्य का प्रश्न नहीं है। जो भी इनसे ऊपर उठने की चेष्टा की है वे उन सबको उसने पागल, मानसिक रूप से विकृत एवं रोगी करार दिया है। इस प्रकार सभी धर्माचार्यों एवं रहस्यवादियों को पागल व रोगी करार दिया। उसके अनुसार धर्म, ईश्वर आदि का स्रोत अतृप्त यौन इच्छा है व अचेतन मन है। धर्मों को उसने मानव मन की व्यापक विक्षिप्तता, भ्रमजाल व पागलपन बताया है। उसने नैतिकता को भी बाहर

से लादी हुई वस्तु बतलाया है। इसकी प्रबलता के कारण ही अनेक मानसिक रोग पैदा हो जाते। जब नैतिकता उसका स्वभाव का अंग बन जाता है तब वह उसकी सहज सुख की प्रवृत्ति का अवरोध करता है इसी से मानसिक रोग होते हैं। अतएव मानसिक रोगों के निवारण के लिए नैतिक बुद्धि का शिथिल करना आवश्यक होता है। इससे वासना का रेचन होता है और मनुष्य आरोग्य प्राप्त करता है।

इसलिए उसने अपनी पुस्तक 'Future of an illusion' में कहा कि 'मजहब एक प्रकार का पागलपन है। जिसका अन्त विज्ञान के आलोक की वृद्धि से अनायास हो जायेगा।

पर इसके विपरीत विचार भी फ्रायड ने अपनी पुस्तक सभ्यता के असंतोष (Discontents of civilisation) नामक पुस्तक में बतलाया है कि यदि नैतिक प्रतिबंध समाज में न रहे तो मानव समाज बर्बर अवस्था में पहुंच जायेगा और कहते हैं तब पागलों की संख्या बढ़ेगी। अतएव दोनों तरफ दुःख ही दुःख है। उन्हें मानव के उद्धार का कोई मार्ग न सूझा। क्योंकि अवदमन किये बिना भी जीवन का निर्वाह होना सम्भव नहीं। सभ्य समाज में रहते हुए हमें अपनी इच्छाओं का दमन करना ही होता है जिससे ग्रंथियों का निर्माण होता है।

इस प्रकार उनका (मनोविश्लेषण का) उद्देश्य अस्वस्थ मानव को पुनः स्वस्थ करना है। इससे ऊपर उठने का मार्ग उनके पास नहीं है।

फ्रायड के विचारों का प्रभाव मार्क्स पर भी पड़ा। मार्क्स के अनुसार व्यक्तिगत परिवार उतना ही बड़ा अपराध है जितना व्यक्तिगत सम्पत्ति। विवाह या गृहस्थ जीवन पुरुष द्वारा नारी को पराधीन रखने का यंत्र है। पति-पत्नी का भाव पूंजीवादियों की उपज है। पत्नी बनकर स्त्रियां अपनी आजादी खो देती हैं। परिवार के बंधन से आजाद होने के लिए ही वह व्यभिचार करती है। सतीत्व, पतिभक्ति तथा स्वामीभक्ति पूंजीवादी, रूढ़िवादी तथा बुर्जुआ लोगों का ढकोसला है।

सन्तान उत्पत्ति के लिए कोई पुरुष किसी स्त्री से भोग कर सकता है। काम भोगों के बारे में नैतिक नियम रूढ़िवादियों का ढोंग है। जिस प्रकार भूख तथा प्यास मनुष्य की बुनियादी जरूरतें हैं, काम भोग भी मनुष्य की बुनियादी आवश्यकता है। इसलिए काम-भोग उतना ही सहज और कुदरती है जितना पानी का गिलास पीना। जिस तरह पानी पीने में कोई नैतिकता का दखल नहीं है न ही पाप या अपराध बोध का स्थान है, उसी तरह स्त्री के साथ काम भोग करने में न नैतिकता का कोई दखल है और न ही पाप या अपराध बोध का स्थान है। इस प्रकार यौन क्रीड़ा पर संयम या चरित्र का कोई बंधन स्वीकार नहीं।

मार्क्स Common साझा गांव की कल्पना करता है जिसमें सब लोग सहकारी जीवन जीयेंगे। न किसी का कोई व्यक्तिगत धन, न व्यक्तिगत परिवार।

सब धन समाज का, सब स्त्री समाज की, सब पुरुष समाज के, सब बच्चे समाज के। इसका अर्थ हुआ भारत में सदा से प्रतिष्ठित पवित्र गृहस्थी के लिए अनिवार्य पति धर्म और सती धर्म का सर्वनाश। दूसरे शब्दों में Animal husbandry पशु प्रजनन केन्द्र के समान Human husbandry मानव प्रजनन केन्द्र की रचना।

फ्रायड के विचारों का व्यापक प्रभाव नव्य मनोवैज्ञानिकों के ऊपर भी पड़ा। उनके अनुसार भी यौन शक्ति इतनी प्रबल और महत्त्वपूर्ण है कि मनुष्य के सारे व्यवहार इसके द्वारा प्रभावित होते हैं। भूख, प्यास और नींद की तरह यह भी एक जैविक आवश्यकता है। इसकी परितृप्ति आवश्यक है। इसकी तृप्ति के बिना जीवन में समायोजन लाना असम्भव माना जाता है। इसके अभाव में मनोविकृति हो जाना सम्भाव्य है। हैवलाक एलिस ने कुछ ऐसे लोगों के विचारों का उल्लेख किया है जो यह मानते हैं कि उन्माद के विविध रूप और साथ ही ऐसी स्नायुविक गड़बड़ियां ब्रह्मचर्य के कारण होती है।

इसका प्रभाव बर्टेण्ड रसेल पर भी पड़ा। उसके अनुसार ब्रह्मचर्य या निग्रह से यौन इच्छा में वृद्धि होती है न कि संतोष या तृप्ति। उनका कथन है कि खाने-पीने की तरह सेक्स भी नैसर्गिक मानवीय आवश्यकता है। यह सच है कि लोग इसके बिना जीवित रह सकते हैं पर खाने-पीने के बिना नहीं।

रसेल ने संस्कारों के विरुद्ध में भी बहुत आग उगली है, संस्कार भोग में बाधा बनते हैं एवं उसके कारण हम शारीरिक एवं मानसिक रूप से अस्वस्थ हो जाते हैं। निग्रह के कारण यौन इच्छा बहुधा बढ़ जाती है और संतोष पाकर अस्थायी रूप से कम हो जाती है। यह अविलम्बनीय आवश्यकता है। इसके कारण बाकी सारा संसार आपकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। उस समय तो बाकी सभी रुचियां लुप्त हो जाती हैं और इसके कारण व्यक्ति ऐसे काम कर बैठता है जो बाद में उन्मादपूर्ण लगते हैं। और फिर जैसा कि खान-पान में होता है निषेध इस इच्छा को और भी उद्दीप्त कर देता है। यही नहीं रसेल ने जीवन के सुख का आधार सेक्स पूर्ति को माना है। अतः जीवन के सुख के लिए सेक्स एक सहज व्यापार है। इसी के अनुसार 80 वर्ष की अवस्था में रसेल स्वयं 16 वर्ष की युवती से 16वीं शादी रचाते हैं।

कुछ डॉक्टर तो बालकों को हस्तमैथुन की भी सलाह देते हैं। नव्य मनोवैज्ञानिकों ने भी धर्म को काम विकृति का ही परिणाम माना है और सैक्स के साथ धर्म या पाप-पुण्य की भावना जोड़ना मूर्खतापूर्ण है, भ्रान्तिपूर्ण है, पागलपन है।

विशेषकर अमेरीका में और कम-बेसी सभी पाश्चात्य देशों में फ्रायड के विचार घर कर चुके हैं, गहरे पैठ चुके हैं और वहां यौन जीवन को अति सहज रूप में स्वीकार कर लिया है। इसका प्रभाव अपने देश में भी पड़ रहा है।

भारतीय शास्त्र परम्परा को काम के विषय में न ईसाइयत का विचार मान्य है कि सृष्टि का मूल बीज पाप है और न फ्रायड का लिवडो का विचार तथा न आधुनिक चिन्तकों के विचार हमें मान्य हैं।

हमारे यहां सृष्टि का बीज आनन्द है, स्वयं ईश्वर है। आनन्द से सृष्टि उत्पन्न होती है, आनन्द में स्थित रहती है और आनन्द में ही लय को प्राप्त होती है। **वृहदारण्यक उपनिषद (1/4/1-3)** में कहा गया है कि आरम्भ में केवल पुरुषाकार आत्मा था, उसे रमण करने की इच्छा हुई पर एकाकी रमण नहीं कर सकता अतः उसने उसी आत्मा को दो भागों में विभक्त किया, वे ही पति-पत्नी के रूप में शिव-शक्ति के रूप में, ईश्वर माया के रूप में विभक्त हो जाता है और उसी से सारी सृष्टि का विस्तार हुआ। सारी सृष्टि में शिव-शक्ति का स्पन्दन चल रहा है। ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जिसके अन्दर स्त्री न हो, ऐसी कोई भी स्त्री नहीं है जिसके अन्दर पुरुष न हो। इसलिये अर्धनारीश्वर की कल्पना है। क्योंकि आत्मा के अन्दर न पुरुषत्व है और न स्त्रीत्व है। नर-नारी का जो भेद है वह आत्मगत न होकर शरीरगत है बुद्धि और भाव के स्तर पर है। आत्मा के अन्दर यह पुरुषत्व और स्त्रीत्व एक अध्यास के रूप में, एक कल्पना के रूप में, एक उपाधि के रूप में प्रकट होता है।

उसी प्रकार एक मंत्र है 'एकोऽहम् बहुश्याम' मैं एक से अनेक हो जाऊं। भगवान् गीता में कहते हैं—

धर्माविरुद्धो भुतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ 7/11

जो काम धर्म के अनुकूल है वह मैं ही हूं। वे पुनः कहते हैं—'**प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः**' **10/28**

मैं प्रजा उत्पादक कामदेव हूं। अर्थात् प्रजनन करने वाले साधनों में स्वयं कामदेव हूं। पुनः गीता में कहते हैं—

मम योनिर्-महद्-ब्रह्म, तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्व-भूतानां, ततो भवति भारत।।14/3
सर्व-योनिषु कौन्तेय, मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्-योनि,-रहं बीज-प्रदः पिता।।14/4

हे भारत महद्ब्रह्म (त्रिगुणात्मक प्रकृति) मेरी योनि है, उसी में मैं सृष्टि के लिए संकल्प रूप गर्भाधान करता हूं। उसी से सभी भूतों की उत्पत्ति होती है।

हे कौन्तेय! सभी योनियों में जो मूर्तियां उत्पन्न होती है उनकी योनि (कारण) महद्ब्रह्म है और मैं बीजाधान करने वाला पिता हूं।

विष्णु पुराण में वर्णन है कि ईश्वर ही निराकार रूप में ब्रह्मा के रूप में, प्रजापतियों के रूप में, माता-पिता के रूप में विश्व की सृष्टि करते हैं। वही

निराकार रूप में, विष्णु रूप में, इन्द्रादि रूप में तथा नृपति रूप में विश्व का पालन करते हैं। और वही निराकार रूप में, रुद्र रूप में, यमादि रूप में तथा व्याधि रूप में जगत का संहार करते हैं।

उद्धृत—क्या सम्भोग से समाधि : ले. करपात्रीजी पृष्ठ 26

हमारे यहां काम को देव माना गया न कि शैतान या पाप। दर्पित काम ही हमारे यहां दण्डित होता है। जब पार्वती कामदेव के उद्दीपन में आकर कामदेव द्वारा कृत्रिम वसन्त द्वारा प्रभावित होकर शिव को प्राप्त करने की चेष्टा की, किन्तु यौवन के उद्दाम वेग में किया गया मिलन कभी सफल नहीं होता। कामदेव भस्म हो गया। शंकर के तृतीय नेत्र की निकलने वाली तेज की ज्वाला से सारी सृष्टि दग्ध होने लगी और पार्वती को बड़ी आत्मग्लानि हुई तब उसने अपने सब रत्नाभूषणों को फेंक कर शिव की प्राप्ति के लिए तप करना प्रारम्भ किया। भूख-प्यास सांसारिक आवश्यकताओं को भुलाकर वह कन्याकुमारी के स्थान पर कुंवारी कन्या के रूप में तीन समुद्रों के मिलन बिन्दु पर एक चट्टान पर बैठकर अनन्यभाव से शिव का चिन्तन करती रही। उस तपस्या के प्रभाव से शंकर को कैलाश से आकर कन्याकुमारी में स्वयं पार्वती का वरण करना पड़ा। इस तरह सारा भारत शिव-शक्ति के अखण्ड मिलन से पावन हो गया। अतः काम देव है। धर्म के अनुकूल गर्भाधान संस्कार है। वैध काम ईश्वरीय कर्म है। काम पुरुषार्थ है। हिन्दू धर्म में दाम्पत्य (यौन) जीवन को कभी अनैतिक नहीं माना गया जो धर्म के अविरुद्ध हो। अन्यथा कोई भी स्त्री माता नहीं बन सकती और न ही कोई पुरुष पिता बन सकता है। जीवन में काम का मर्यादित महत्त्व है। यही कारण है सभी देवों के साथ देवियां भी हैं। हिन्दुओं के सभी देव ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र व कुबेर, राम-कृष्ण आदि भी विवाहित हैं।

ईश्वर इस सृष्टि में रमा होने के बावजूद भी ब्रह्म उससे सर्वथा अलिप्त है। कामना से वह सर्वथा शून्य है, उससे परे है। भगवद्गीता में स्वयं भगवान् कहते हैं—

मया तत-मिदं सर्वं, जगद-व्यक्त-मूर्तिना।
मत्स्थानि सर्व-भूतानि, न चाहं तेष्व-वस्थितः।।9/4
न च मत्स्थानि भूतानि, पश्य मे योग-मैश्वरम्।
भूत-भृन्-न च भूतस्थो, ममात्मा भूत-भावनः।।9/5

मुझ अव्यक्त परमात्मा द्वारा यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है। उसी अव्यक्त परमात्मा में ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त सभी भूत स्थित है पर असंग होने से मैं उनमें स्थित नहीं हूं।

असंसर्गी होने के कारण वस्तुतः मुझमें भूत स्थित नहीं है। मेरे इस ऐश्वरयोग को देख। मेरा आत्मा भूतों का उत्पादक, भूतों का भरण-पोषण करने वाला होता हुआ भी भूतों में स्थित नहीं है।

यानी सारी सृष्टि का खेल उसका होने पर भी वह उससे अलिप्त है, परे है, जैसे कमल कीचड़ में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है, संसार का होकर भी संसार का बंदी नहीं, तलबदार नहीं, खरीददार नहीं। काम की यही सर्वोच्च आदर्श स्थिति है? हमारा लक्ष्य ब्रह्म प्राप्ति या ब्रह्म के ही अंश होने के कारण इस आदर्श स्थिति तक पहुंचना है। यही हमारे काम का सर्वोच्च लक्ष्य है।

आपूर्यमाण - मचल - प्रतिष्ठं
समुद्र-मापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्ति-माप्नोति न काम-कामी।।2/70

सब और से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में (अनेक नदियों के) जल उसे विचलित किये बिना समा जाते हैं वैसे ही जिस पुरुष के प्रति कामनाओं के विषय उसमें विकार उत्पन्न किये बिना समा जाते हैं वह पुरुष शान्ति प्राप्त करता है न कि भोगों की कामना करने वाला पुरुष। अर्थात् प्राप्त भोगों का उपयोग करते हुए भी अप्रभावित एवं शान्त बना रहता है।

इस आदर्श स्थिति को प्राप्त करे इसी दृष्टि से हमारे यहां काम तत्त्व का विवेचन हुआ है।

अविवेक द्वारा भोगों को भोगने से न तृप्ति, न शमन वरन् उत्तरोत्तर उसमें वृद्धि होती जाती है—

अशास्त्रीय ढंग से, अमर्यादित होकर अविवेकपूर्वक जब हम भोगों को भोगते हैं तो उसमें और ज्यादा-ज्यादा लिप्त होते जाते हैं, डूबते जाते हैं क्योंकि विषय भोग से सामयिक तृप्ति तो होती है पर थोड़ी देर में और अधिक और अधिक की चाह उत्पन्न कर देते हैं। सामयिक शान्ति के बाद और अधिक अशान्ति उत्पन्न कर देते हैं। अधिक बार विषय भोगने से रस तो कम मिलता है पर चाह बढ़ती जाती है और और की। इसका प्राचीन उदाहरण ययाति का है। जिसने सारा जीवन उसने कामपूर्ति में ही बताया। बिलकुल बूढ़ा हो गया तो भी काम-विकार की शान्ति नहीं हुई। क्योंकि हमारे यहां कहा गया है कि—

न जातु कामः कामानामुप, भोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयएवाभिर्वते।।

अर्थात् उपभोग से काम शान्त नहीं होता। जिस प्रकार अग्नि में घी डालने से अग्नि शान्त नहीं होती, और अधिक प्रज्वलित होती है। वैसे उपभोग के कारण इच्छायें और प्रबल होती है। ययाति ने सारा जीवन इस तरह से बिताया कि अन्त तक काम की शान्ति नहीं हुई। सुन्दर शर्मिष्ठा को देखा तो सोचा कि इसका तो

उपभोग करना ही चाहिये। लेकिन बेचारे बूढ़े हो गये थे। प्रकृति की रचना ही ऐसी है। एक तरफ काम की इच्छा बढ़ती जाती तो दूसरी तरफ शारीरिक शिथिलता बढ़ती जाती है। कहते हैं कि उसने अपने लड़कों को बुलाया और उनसे उनकी जवानी मांगी तो पुत्र पुरु ने अपनी जवानी दी ताकि वे शर्मिष्ठा का उपभोग कर सकें। सावरकरजी ने कहा है, सम्पूर्ण जीवन का उसने एक ही खेल बना दिया तो भी उसकी पूर्ति नहीं हुई, उसकी शान्ति नहीं हुई। उनकी तो यह अनुभूति हुई- मैंने भोगों को नहीं भोगा, भोगों ने ही मुझे भोग लिया।

आधुनिक उदाहरण—पाश्चिमात्य जगत में एक बड़ा श्रेष्ठ नाम आता है कासानोवा का जो अभी-अभी सौ-डेढ़ सौ साल पहले हुआ था। वह इतना यशस्वी किन्तु उपभोगी पुरुष था कि उसका नाम कामपूर्ति का प्रतीक बन गया है। लेकिन उसका जीवन दृष्टान्त यह नहीं बताता कि सारे यूरोप को अपने उपभोग का विषय बनाने के बाद भी काम-विकार के अन्त में वह सुखी हुआ। कासानोवा का प्रणयी जीवन ऐसा था जिसने सारी जिन्दगी औरतों पर लुटाता रहा। जीवनभर उनसे सम्बन्ध बनाता रहा, छोड़ता रहा और कभी बदनाम नहीं हुआ। आदर्श व्यक्ति माना जाता रहा। वह जैसा प्रतिभावान वैसा ही उत्कट प्रेमी भी और औरतों के दिलों का सौदागर था वह, जीवनभर औरतों से सम्बन्ध बनाता रहा फिर भी आजीवन कुंवारा रहा। उसने अनेकों पुस्तकें लिखी हैं जिसमें उसने 12 खण्डों में अपनी आत्मकथा लिखी है जो बहुत लोकप्रिय हुई पर उसका अनुभव भी ययाति से भिन्न नहीं है। संभोग से समाधि वाले मंत्र ने आचार्य कण्हपा से आचार्य रजनीश, बाल योगेश्वर, दादा लेखाराम, प्रभात रंजन बाबा तक सभी को डुबो दिया।

इस्लाम में काम को बहुत महत्त्व दिया गया है और इस वृत्ति को बहुत उभारा गया है। महिमान्वित किया गया है। अविवेकी काम भोग की विकृत विलासिता की परम्परा इस्लाम में बहुतायत मात्रा में है। प्रारम्भ से आज तक का इतिहास इस बात का द्योतक है। साक्षी है। पवित्र गृहस्थाश्रम की सम्यक् अवधारणा नहीं है। संन्यास की तो कल्पना भी नहीं है। मुल्ले-मौलवी वेतनधारी इस्लाम पंथ के प्रचारक, विस्तारक है। पीर, सूफी संत (एक-आध अपवाद छोड़कर) पंथ प्रचारक और विस्तारक हैं—छल-छद्म, कपटाचार-मिथ्याचार, बलात्कार-पापाचार, हिंसा सभी जायज हैं पंथ प्रचार और विस्तार में।

इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण भरे पड़े हैं। मुगल बादशाहों के हरम में हजारों रानियां रहती थी, उपभोग करते-करते उत्तेजना तक समाप्त हो जाती थी अतः कृत्रिम रूप से उत्तेजित करने के लिए सैकड़ों वैद्य-हकीम लगे रहते थे।

मुगल साम्राज्य के प्रतापी शहंशाह अकबर को किसी चीज की कमी नहीं थी। उसके जनानखाने में एक से बढ़कर एक सुन्दरियां, नवयौवनायें, रूपसी

हिन्दू तथा मुस्लिम बेगमें विद्यमान थी। जैसे—वह अपने साम्राज्य का विस्तार करता जाता था वैसे-वैसे उसके जनानखाने में बेगमों का विस्तार होता जाता था। अकबर जिस स्त्री पर रीझ जाता था उसे अपना बनाकर ही छोड़ता था। इतना सब कुछ होने के बावजूद उसका सौन्दर्य लोलुप और कामुक मन तृप्त नहीं हुआ था। अपने हृदय की इस कमजोरी के कारण कई धक्के भी खाये। पर वह अपनी इस प्रकृति पर विवश था अपनी सौन्दर्य लोलुपता की मनोवृत्ति के अधीन था। अपनी इस मनोवृत्ति के वशीभूत हो उसने आगरा में मीना बाजार लगाया था जिसमें अधीनस्थ राजा-महाराजाओं की कुमारियां आकर अपनी दुकानें खोलती थी और सम्राट अकबर मेले में वस्तुयें खरीदने आते थे और कुमारियों के रूप सौन्दर्य को देखकर अपनी सौन्दर्य पिपासा को राहत मिलती थी। एक बादशाह ने तो रानियों का अलग से नगर बसाया जिसमें सब पदाधिकारी भी नारियां ही होती थी।

चीन में एक अद्भुत सम्राट हुआ जिसका नाम शिह हुआंग था जिसने अद्भुत महल का निर्माण कराया था। यह महल दस हजार कमरों का था वह अपने जीवन के अन्त तक 27 वर्षों तक इस महल में रहा और एक कमरे में दूसरी रात नहीं सोया। हर रात उसके लिए अलग रानी होती थी। उसने 13 हजार औरतों से विवाह किया था और 2800 सन्तानों को जन्म दिया था। इसी ने चीन की प्रसिद्ध बड़ी दीवार बनवायी थी।

कहा जाता है कि रोम के क्लबों में गुसलखाने के सामने वमन कक्ष (Vomitting rooms) बनाये जाते थे। खाओ और वमन करो। जिह्वा की रस तृप्ति का यह अद्भुत प्रयास था। पर मनुष्य कब तक खा सकेगा। आखिर हर बात की एक सीमा होती है। अतः निष्कर्ष निकलता है इस तरह तृप्ति नहीं होती है। इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण है पर किसी को भी तृप्ति का बोध हुआ हो ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

काम के विषय में मार्क्स के विचार हम पहले ही देख चुके हैं। वह परिवार संस्था व विवाह संस्था के भी विरुद्ध था। 1917 की क्रान्ति के बाद रूस की कम्युनिस्ट सरकार ने सम्भवतः विवाह संस्था और परिवार प्रथा को ही समाप्त कर देना चाहा फलतः तलाक के नियमों को इतना ढीला कर दिया कि जब चाहे तब और चाहे जिस कारण से भी हो तलाक की अर्जियां स्वीकृत कर दी जाती थी। गर्भपात को कानूनी करार दे दिया गया और अस्पतालों में गर्भपात की सुविधायें दी गई। विवाह के पूर्व सैक्स सम्बन्धों को बढ़ावा दिया गया, विवाह के बाहर सैक्स सम्बन्ध रखना स्वाभाविक एवं समाज सम्मत मान लिया गया। पर विवाह संस्था को नष्ट नहीं किया था सिर्फ इतना लिहाज रखा गया।

हरिदत्त वेदालंकार ने अपने लेख 'रूस में नैतिक अराजकता' में बताया कि स्त्री-पुरुषों को सब नैतिक बंधनों से सर्वथा स्वतन्त्र बनाने का परिणाम यह हुआ कि वह उचित-अनुचित की परवाह किये बिना कामोपभोग में रत हो गये। उन्हें पहले धर्म का भय था किन्तु क्रान्ति के बाद रूस में धर्म पुराने इतिहास की घटना मात्र रह गया था। पहले युवक-युवतियों को लोकनिन्दा तथा समाज निन्दा का भय रहता था। अब समाज में कामोपभोग को आदर्श, स्वातंत्र्य समझा जाने लगा। पहले तरुण-तरुणियों के माता-पिता उन्हें कुमार्गी होने से बचाते थे किन्तु अब क्रान्ति के प्रभाव से माता-पिता भी बुर्जुआ, प्रतिगामी, दकियानूसी थे, उनकी परवाह किसे थी। जब माता-पिता का यह हाल था तो गुरुजनों के उपदेशों का क्या प्रभाव पड़ सकता था। सारांश यह है कि युवक-युवतियों को कुपथगामी होने से रोकने के सभी साधन नष्ट हो चुके थे। उन्मुक्त सेक्स के इस वातावरण में वहां के समाज की क्या दशा हुई इस पर हार्वर्ड यूनिवर्सिटी के प्रो. सीरोकिन ने लिखा है—

कुछ ही वर्षों में आवारा और अनाथ बालकों के झुण्ड के झुण्ड राज्य के लिए सिरदर्द बन गये। हजारों नहीं लाखों जवान लड़कियों की जिन्दगियां चौपट हो गई, तलाकों और गर्भपातों की संख्या आसमान को छूने लगी। बहु-पत्नीत्व और बहुपतित्व अपनाने वाले सदस्यों में परस्पर घृणा और झगड़े-झंझट दिन-दूने और रात-चौगुने बढ़ने लगे। स्नायविक और यौन मनोविकारों से पीड़ित स्त्री पुरुषों की संख्या भी इसी अनुपात से बढ़ी। राष्ट्रीय कारखानों में काम की गति बहुत मंद पड़ गई।

'गरज यह कि कुल मिलाकर नतीजे इतने भयानक रूप धारण कर गये कि मजबूर होकर राज्य को अपनी नीतियां पलटनी पड़ी। विवाह संस्था को मान्यता देनी पड़ी; तथा शादी से पूर्व और शादी के बाहर सेक्स सम्बन्ध अनैतिक करार देने पड़े।

लेनिन ने पेरिस नामक स्थान पर कम्यून का प्रयोग किया किन्तु उसके परिणाम भी बहुत भयंकर निकले। 75 प्रतिशत बच्चों में यौन रोग लग गये तथा पूरा परिवार व्यभिचार तथा हिंसा की अग्नि में जलने लगा। इसलिए ये प्रयोग बन्द करने पड़े।

इस सम्बन्ध में Society in transition नामक पुस्तक में क्रमबद्ध आंकड़े दिये गये हैं कि अमेरीका में किस प्रकार विकृतियां निर्माण होती रहती हैं।

डॉ. ब्लाय डेनमार्क के नवयुवकों के विषय में लिखते हैं—डेनमार्क ने नवयुवकों में 10 वर्ष में हर एक नवयुवक को सिफलिस या गोनोरिया हो चुका है और कई नवयुवकों को यह बीमारी दुबारा हो चुकी है।

हेविलास इलिस अपनी पुस्तक Sex in relation to society के पृष्ठ 326 पर लिखते हैं कि आज यूरोप में ऐसा समय आ गया है जब 'सिविलिजेशन'

तथा 'सिफलिजेशन' का एक ही अर्थ हो गया है। सेक्स को खुला छोड़ देने का परिणाम सिफलिस को खुला छोड़ देना है।

अमेरीका के हैराल्ड ट्रिब्यून का कथन है—सेक्स को खुली छूट देने का परिणाम यह है कि अमेरीका में 12 से 24 वर्ष की आयु के व्यक्ति आत्मघात कर लेते हैं। प्रत्येक विवाह के 11 वर्ष के भीतर तलाक में बदल जाने की सम्भावना है। 80 प्रतिशत अपराध 18 वर्ष से कम आयु के बालक करते हैं। स्कूल में पढ़ने वाली 100 में से 40 लड़कियां 16 वर्ष की आयु में विवाह से पहले ही मां बन जाती है। यह सब कुछ डेनमार्क या अमेरीका का ही हाल नहीं है; पाश्चात्य सभ्यता जहां-जहां पहुंची है भौतिकवाद ने जहां कहीं भी डेरा डाला है वह कोई भी देश हो, सबका यही हाल है।

'भाव-प्रकाश' ग्रन्थ के अनुसार सिफलिस को फिरंग रोग कहा गया है क्योंकि यह फिरंगियों से भारत आया।

मैसिमो टयौडरी नामक विद्वान ने अमेरीकी समाज के यौन स्वेच्छाचार में विकृत स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे समलैंगिक, उभयलैंगिक तथा वैलिंग्य कामुकता का एक ऐसा जीवित नमूना बताया है जिसमें परिवार, धर्म, नैतिकता आदि के सभी जीवन मूल्य समाप्त होकर मारीजुआना और एल.एस.डी. पर आधारित आदिम युगीन मानव का चित्र आज वहां उपस्थित हो गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है भारतीय चिंतन कितना विज्ञान सम्मत है कि काम को खुली छूट मिलने पर अविवेकपूर्वक अमर्यादित भोग भोगने से उससे न कभी तृप्ति होती है, न निवृत्ति होती है वरन् काम से भोगी, भोग से रोगी, रोगी से मृत्युमुखी होते हैं। वह असमय में वृद्धावस्था और मृतावस्था को प्राप्त होता है।

हमारे यहां काम की तुलना लावे से की गई है जिसमें एक बार अग्नि प्रदीप्त हो जाये तो वह पूर्णतया जलकर शान्त होती है। अपने में तो यहां तक कहा गया है संसार का सारा धन, वैभव एवं स्त्रियां भी एक व्यक्ति को मिल जाये तो भी उसकी इच्छा तृप्त नहीं हो सकती। प्रकृति में सबकी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति की तो क्षमता है पर एक की भी इच्छापूर्ति का सामर्थ्य नहीं है क्योंकि इच्छायें अनन्त हैं। अतः इसका शमन विवेक द्वारा ही हो सकता है। हमारी पुराण कथाओं में, असुरों के जीवन में पाते हैं हिरण्यकशिपु, रावण आदि पृथ्वी के राज्य से ही संतुष्ट नहीं थे वरन् अन्य लोकों पर भी अपनी विजय पताका फहरायी और वहां से धन, वैभव, स्त्रियां प्राप्त करते रहे। इस तरह काम यह एक ऐसी आग है जो सिर्फ भोग से तृप्त नहीं होती वरन् भोग के साथ-साथ विवेक संयम से ही तृप्त किया जा सकता है।

महाभारत में इस सन्दर्भ में बहुत सुन्दर उदाहरण दिया गया है। मनुष्य को कितना चाहिये?

एकोऽपि पृथिवीं कृत्स्नामे कच्छत्रां प्रशास्ति च।
एकस्मिन्नेव राष्ट्रे तु स चापि निवसेन्नृपः।।
तस्मिन् राष्ट्रे ऽपि नगरमेकमेवाधितिष्ठति।
नगरेऽपि गृहं चैकं भवेत् तस्य निवेशनम्।।
एक एव प्रदिष्टः स्यादावासस्तद् गृहेऽपि च।
आवासे शयनं चैकं निशि यत्र प्रलीयते।।
शयनस्यार्धमेवास्य स्त्रिभाश्चार्धं विधीयते।
तदनेन प्रसंगेन स्वल्पेनैवेह युज्यते।।
सर्वं ममेति सम्मूढ़ो बलं पश्यति बालिशः।
एवं सर्वोपयोगेषु स्वल्पमस्य प्रयोजनम्।।
तण्डुल प्रस्थमात्रेण यात्रा स्यात् सर्वं देहिनाम्।
ततो भूयस्तरो भोगो दुःखाय तपनाय च।।

(महाभारत, अनु. प. 145)

अर्थ—जो राजा अकेला ही समूची पृथ्वी का एकछत्र शासन करता है, वह भी किसी एक ही राष्ट्र में निवास करता है। उस राष्ट्र में भी किसी एक ही नगर में रहता है। उस नगर में भी किसी एक ही घर में निवास करता है। उस घर में उसके लिए एक ही कमरा नियत होता है। उस कमरे में भी उसके लिए एक ही शय्या होती है, जिस पर वह रात को सोता है। उस शय्या पर भी आधा ही भाग उसके पल्ले पड़ता है। उसका आधा भाग उसकी रानी के काम आता है। इस प्रकार वह अपने लिए थोड़े से ही भाग का उपयोग कर पाता है। तो भी वह मूर्ख, वह गँवार सारी पृथ्वी को अपना ही समझता है और सर्वत्र अपना ही चल देखता है। इस प्रकार सभी वस्तुओं के उपयोगों में उसका थोड़ा-सा ही प्रयोजन होता है। प्रतिदिन एक किलो चावल से ही समस्त देहधारियों की प्राणयात्रा का निर्वाह होता है। उससे अधिक भोग, दुःख और संताप का कारण होता है।

इस सन्दर्भ में टाल्स्टाय की सुप्रसिद्ध कहानी है—मनुष्य को कितनी जमीन चाहिये- राजा ने किसी व्यक्ति से कहा कि तुम जितनी जमीन पर दौड़ोगे उतनी जमीन हम तुमको दे देंगे। वह गरीब आदमी था। उसने सोचा कि सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक जितनी जमीन पर दौड़ूंगा उतनी जमीन उसकी हो जायेगी। अच्छा मौका है। उसने सूर्योदय से ही दौड़ना शुरू कर दिया। हर समय मन में यही विचार रहता था कि एक दिन ही तो दौड़ना है, बाद में तो सारी जिन्दगी के

लिए यह जमीन उसकी हो जायेगी। सुख से रहेगा। वह आगे और आगे ही दौड़ता रहा। उसके फेफड़े में तकलीफ होने लगी। शरीर थकने लगा। दम उखड़ने लगा। फिर शाम होने लगी तो उसने अपनी गति और तेज कर दी। जब सूर्यास्त दिखाई देने लगा तो सोचा कि अब तो समय बहुत ही कम रह गया है और तेज दौड़ना चाहिये। वह इतना तेज दौड़ा कि हांफते-हांफते दम उखड़ गया और गिरकर खत्म हो गया। टाल्स्टाय ने लिखा है कि उसके समाप्त होने के बाद जब उसको गाड़ने के लिए जमीन की नापजोख की गई तो साढ़े तीन गज जमीन में काम हो गया। टालस्टाय ने लिखा है कि मनुष्य को केवल साढ़े तीन गज जमीन चाहिये। लेकिन उसने दौड़ते-दौड़ते उसमें अपना सारा जीवन समाप्त कर दिया।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी मानव की ट्रेजेडी पर लिखते हैं—मैं सारी रात बिछोवन बिछाने में ही लगा रहा, सोना हो ही नहीं सका। ऐसा सुन्दर मकान होना चाहिये, ऐसा सोफासेट, ऐसी सुन्दर पत्नी होनी चाहिये। इसके लिए साधन जुटाते-जुटाते जिन्दगी खप जाती है, बिछावन बिछाते-बिछाते रात बीत जाती है सोना हो नहीं पाता। मैं सारी जिन्दगी वीणा के तारों को ही ठीक करते रह गया जो गाना था वह गा नहीं सका। यह मानव जीवन की व्यथा है।

मेरे पास जो है वह पर्याप्त नहीं है, उससे अधिक कैसे पाऊं। और और की चाह में, दौड़ में सारे जीवन को समाप्त कर देता है और कभी सुखी, तृप्त नहीं हो पाता है।

रूस के तानाशाह स्टालिन की लड़की श्वेतलाना हिन्दुस्तान आई थी। हम अनुमान लगा सकते हैं कि स्टालिन की लड़की के पास सम्पत्ति और बाकी सब चीजों का क्या अभाव हो सकता है? यहां संवाददाताओं ने जब उससे पूछा कि, 'तुम यहां क्यों आई हो? चाहती क्या हो? तुम्हारी इच्छा क्या है?' उसने कहा कि, 'मेरी एक ही इच्छा है कि पवित्र गंगा नदी के किनारे कुटिया बनाकर आराम से अपने जीवन का अन्तिम काल बिता सकूं।' क्या हमारे देश का प्रोगेसिव और रैडिकल आदमी यह कल्पना कर सकता है कि स्टालिन की लड़की यह कहे कि, मेरी अन्तिम इच्छा है कि मैं गंगा के किनारे कुटिया बनाकर के अपने जीवन का अन्तिम काल बिताऊं।

लगभग 1982-83 में विश्व प्रसिद्ध पूंजीपति हेनरी फोर्ड का नाती भारत आया तो उससे भी संवाददाताओं ने पूछा, 'आप हरे राम हरे कृष्ण आन्दोलन के चक्कर में कैसे आ गये?' वह बोला, 'इसी में मुझे शान्ति मिलती है।' फिर दूसरे संवाददाता ने पूछा कि, 'आपको इसमें शान्ति मिलती है। फिर आपके पास जो अकूत सम्पत्ति है उसका क्या होगा?' उसने उत्तर दिया- सम्पत्ति मात्र सम्पत्ति है, यह तो भगवान कृष्ण की है।

स्पष्ट है काम ऐसी आग है जिसे केवल भोग से नहीं विवेक एवं संयम से ही तृप्त किया जा सकता है। पर जब हमारा तत्त्वज्ञान, हमारी मान्यता ही ऐसी हो जाये कि विवेक संयम आदि मूर्खतापूर्ण बकवास है, मस्तिष्क की विकृति या स्नायु-दुर्बलता का परिणाम है। जब तक जीवन है तब तक भोग ही जीवन है। सफलता आदि सभी कुछ यहीं है। और नित्य विज्ञापनों के द्वारा कृत्रिम आवश्यकताओं का निर्माण किया जा रहा है। नयी-नयी उत्तेजना देने का प्रयास किया जा रहा है।

आज पूरा पाश्चात्य समाज भेड़ियाधसान की तरह इसमें बहता जा रहा है जिसका प्रभाव अन्य सभी देशों पर भी पड़ रहा है। फिर भी कोई सुखी एवं तृप्त नहीं है। आज वह सुखों एवं सुविधाओं के शैल पर, अम्बार पर खड़ा है। आज जो भौतिक सुख-सुविधायें उपलब्ध हैं वह इसके पूर्व सम्भवतः कभी उपलब्ध नहीं रही फिर भी वह सुखी और तृप्त नहीं है क्योंकि जीवन दृष्टि अधूरी एवं त्रुटिपूर्ण होने से कि हम मात्र भोगों की अधिकता से सुखी हो जायेंगे। आज पाश्चात्य देशों में, विशेषकर अमेरिका में सभी तरह के अपराध, सभी प्रकार के रोग विशेषकर यौन रोग, यौन अपराध, स्नायु विकृतियां वहीं है। सबसे अधिक प्रति-हिंसा भी वहीं है क्योंकि एक की इच्छा का दूसरे से टकराव होता है और पूरा समाज प्रतिहिंसा में जल रहा है। अत्यधिक सेक्स के उपभोग से मनुष्य की उत्साह शक्ति, जीवन शक्ति, धारणा शक्ति नष्ट हो जाती है फलतः वह समाज अधपतित होकर समाप्त हो जाता है।

J.D. Unwin की पुस्तक Sex Regulation of social revolution में इसी दृष्टि से 80 असंस्कृत और सुसंस्कृत समाजों का अन्वेषण परीक्षण किया गया है। उसमें लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि जिस समाज में काम तत्त्व (Sex) जितना ही नियंत्रित और कम होगा उसमें उत्साह, धारणा और जीवन शक्ति उतनी ही अधिक होगी और जिसमें काम तत्त्व अधिक अनियंत्रित होगा वह समाज उतना ही क्षुद्र, दीन, लाचार और निस्तेज होगा। आर्केडिया प्रदेश के लेंगास नगर के लोगों का जब तक कामवासना का अंकुश रहा तब तक उनमें उत्साह, धारणा और जीवन शक्ति थी, परन्तु उस अंकुश के शिथिल होने पर वह समाज और संस्कृति नष्ट हो गई। इसी प्रकार जब तक सुमेरियन, बेबीलोनिया, एथेन्स, रोमन आदि संस्कृतियों के लोगों में कामुकता का प्राबल्य नहीं रहा, तब तक वे खूब उन्नत रहे, किन्तु काम का प्राबल्य होने पर वे लोग अपनी भव्य संस्कृतियों सहित सम्पूर्णतः समाप्त हो गये।

अमर्यादित, अविवेकी भोगी न अपने व्यक्तिगत जीवन का निर्माण कर सकता है न उसका परिवार जीवन सुगठित हो सकता है। आज अमेरीका आदि

देशों में परिवार जीवन प्रायः समाप्त-सा हो गया। आज उनको बच्चे भोग में बाधक और आर्थिक दृष्टि से बोझ लगने लगे? फलतः बच्चों की कमी होती जा रही है। जो भी बच्चे होते हैं उनके माता-पिता को लालन-पालन का समय ही नहीं होता। बच्चों को जो माता-पिता का वात्सल्य-प्रेम मिलना चाहिये वह मिलता नहीं। वहां तीन मास के पश्चात् बच्चे को मां इसलिए अलग कमरे में सुलाती है कि उसका असमय रोना उसके दाम्पत्य सुख में बाधा उत्पन्न न करे। वहां बच्चे भी तीन प्रकार के होते हैं सिर्फ पति के, सिर्फ पत्नी के और दोनों के, पिता के बच्चों को मां का प्यार सुलभ नहीं होता और मां के बच्चे को पिता का प्यार सुलभ नहीं। दोनों प्रकार के बच्चे नाना प्रकार के शोषण, पीड़न जिसमें यौन अत्याचार भी सम्मिलित के शिकार होते हैं और कुछ बच्चों का माता-पिता से मिलना वकीलों के द्वारा ही हो पाता है। इसमें से बहुत से बच्चे स्कूल पहुंच ही नहीं पाते कितने स्कूल छोड़कर भाग जाते हैं और नाना प्रकार के गिरोहों में फंस कर सब प्रकार के शोषण के शिकार होते हैं और जिन बच्चों को माता-पिता द्वारा पोषण होता है उन्हें भी माता-पिता के व्यवहार से लगने लगता है कि हम माता-पिता के लिए अनावश्यक बोझ स्वरूप, भोग में बाधक है फलतः 8-10 वर्ष से ही किसी न किसी काम में जुट जाते हैं बाद में माता-पिता से अलग हो जाते हैं। स्पष्ट है बच्चों को माता-पिता द्वारा सही दिशा और प्यार न मिलने से बहुत प्रकार के व्यसनों के अभ्यस्त हो जाते हैं। और आजीवन सच्चे प्रेम से अपरिचित ही रह जाते हैं। इस प्रकार यहां का बचपन बीमार हो गया है और स्पष्ट है उनके जीवन में माता-पिता के लिए भी कोई स्थान नहीं है। भोगवादी पश्चिमी सभ्यता में बच्चे स्नेह से वंचित हैं, जवानी चंचल है, वहां सभी सम्बन्ध तो समाप्तप्राय है पति-पत्नी का रिश्ता बहुत कच्चे धागे से बंधा हुआ है जो किसी भी समय टूट सकता है। जहां बुढ़ापा सम्मानहीन है। Old home में कटता है। जिस सभ्यता का बचपन बीमार हो, बूढ़ापा बोझ तुल्य है और जवानी चंचल है वह सभ्यता विकास के पथ पर नहीं जा रही है, विनाश के पथ पर ही जा रही है।

स्नेह रहित, संस्कारहीन, दिशाहीन बच्चों से कैसा समाज निर्मित होगा, जो स्वयं असंवेदनशील हैं वही तो बड़े होने पर जीवन के विविध क्षेत्रों में जायेंगे और सभी जगह विकृति ही फैलायेंगे। आज के बच्चे कल के कर्णधार बनेंगे पर जिनका बचपन बीमार वह अच्छे नागरिक कभी नहीं बन सकते। यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से स्पष्ट है—असामान्य और अमानवीय वातावरण में पले बच्चे बड़े होकर सामान्य और संवेदनशील नागरिक कभी नहीं बन सकते। लम्बे समय तक झेली गयी बर्बरता उनके संवेदनशील स्नायुओं को निष्क्रिय कर देती है अर्थात् वे बड़े होकर पहली पीढ़ी से ज्यादा बर्बर होंगे। ऐसे ही नागरिक समाज के सभी पदों

पर पहुंचेंगे तब समाज के सभी स्तरों पर परस्पर घृणा, द्वेष, हिंसा, कामाचार नहीं तो क्या होगा?

इस प्रकार पश्चिम में परिवार व्यवस्था नष्ट होती जा रही है, परिवार की गरिमा एवं स्थायित्व समाप्त हो रहा है। सारे सद्गुणों का आधार एवं सामाजिक पालना परिवार माना जाता है। ये सब बातें समाप्त हो रही है। बच्चा थोड़ा बड़ा होते ही उसे लगने लगता है कि माता-पिता के जीवन में उसका कोई स्थान नहीं है। वह 8-10 वर्ष की अवस्था से होटल में जूठी प्लेट साफ करने लगता है, स्वावलम्बी बनने लगता है और बड़े होने पर विवाह कर माता-पिता से अलग होकर अपने नये कुटुम्ब की स्थापना कर लेता है, जिसमें वे न माता-पिता के रहन-सहन का अनुगमन करते हैं न वंश परम्परा का ही अनुसरण करते हैं। किसी भी देश में संस्कृति का आधार परिवार होता है। हम माता-पिता से वंश परम्परा के आधार पर अपनी संस्कृति के संस्कारों को उत्तराधिकार के क्रम से पाते हैं।

तो अविवेकी भोग का परिणाम है। जिसमें महत्तर जीवन लक्ष्य के लिए कोई स्थान ही नहीं बचता। फ्रायड ने मानव प्रकृति के दमन को, मार्क्स ने परिवार एवं समाज जीवन के कारण कुण्ठा निर्मित होती है अतः इन सबसे खुली छूट दे दी। इसलिए आन्द्रे मालरो ने लिखा है—पिछली अर्धशताब्दी से मनोविज्ञान मानव में शैतान की प्रतिष्ठा करने के लिए लगातार कोशिश करता रहा, मेरा विश्वास है कि अगले पचास वर्षों में वह मानव के भीतर पुनः देवताओं की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील होगा।

अविवेकी भोग से न तो तृप्ति ही न शमन, यह उसे न तो स्वयं के जीवन को गठित करने देती है और वह न परिवार जीवन समाज जीवन का अंग बन पाता है वरन् उसका द्रोही बनता है। इस प्रकार वह स्वयं नष्ट होता है और परिवार जीवन एवं समाज जीवन में भी अवरोध खड़ा कर देता है।

इसी से भारतीय मनीषी कामोपभोग की खुली छूट नहीं देते। जीवन में अनेक आनन्द हैं पर जो सिर्फ कामोपभोग में ही रम जाते हैं वह अन्य आनन्दों से तो वंचित रह ही जाते हैं और कामोपभोग भी ठीक से नहीं कर पाते। जब स्वामी विवेकानन्द अमेरीका में थे तो उनकी भेंट प्रोफेसर इंगरसोल से हुई थी। उन्होंने विवेकानन्द से कहा—नारंगी के रस को इस प्रकार निचोड़ना चाहता हूं वह पूर्णतया रसहीन हो जाये। स्वामीजी ने उनसे कहा—मैं संसार रूपी नारंगी निचोड़ने की ऐसी विधि जानता हूं जिससे उससे सहस्त्रों गुणा अधिक रस पाओ। एक-एक बूंद पा जाओगे। वह है संयम के द्वारा भोग। बिना संयम के हम भोग भी भोगने के योग्य नहीं रहते। इसलिए ईशावास्य उपनिषद जो योग की पुस्तक, उसमें भोग की चर्चा है यानी भोग की विधि बतायी है—'त्येन त्यक्तेन भुंजिथा' त्यागपूर्वक

भोगो। यही भोग की यथार्थ विधि है बिना त्याग और संयम के हम भोग भोगने में भी असमर्थ हो जाते हैं। इस तरह भारतीय दृष्टि काम को खुली छूट नहीं देती।

फ्रायड आदि काम का विचार करते समय केवल व्यक्ति के जीवन पर ही विचार करते हैं, कामपूर्ति की उच्छृंखल छूट से परिवार व्यवस्था एवं समाज व्यवस्था पर क्या दूषित प्रभाव पड़ेगा उस पर विचार नहीं करते। यही कारण है आज वहां जीवन के दो विभाग हैं Private life and Public life। Private life में व्यक्ति क्या करता है इसे न परिवार, न समाज का हस्तक्षेप उसे स्वीकार है। इसका ही दुष्परिणाम है बिना चारित्रिक आधार के सारा समाज वेश्यालय में परिवर्तित हो रहा है। और इसके क्या दुष्परिणाम आ रहे हैं इस सम्बन्ध में एलिजाबेथ मेसीहिल ने एक पुस्तक लिखकर बहुत से उदाहरण दिये हैं—एक बहन के देवर ने उसके पैसे चुरा लिए। वह उस पर बहुत क्रोधित हुई, परन्तु मनोविज्ञानवेत्ताओं ने उससे कहा कि उस पर व्यर्थ क्रोध न करे। चोरी करने के लिए वह उत्तरदायी नहीं है क्योंकि बचपन में पैसे की परेशानी से उसकी चोरी करने की इच्छा हुई होगी और उस समय वह चोरी न कर सका होगा। इससे उसमें ग्रन्थि (Complex) निर्माण हो गई, इसलिए ही शायद उसने चोरी की होगी।

एक बहन की सहेली को उसका पति उठा ले गया। इसके बाद वह पति पर बहुत क्रोधित हुई। वह एक मानसशास्त्री के पास गई। उसने कहा इसमें तुम्हारे पति का कोई दोष नहीं है। एक पत्नीत्व पुरुष स्वभाव के प्रतिकूल है और समाज ने वह बलात् उसके ऊपर लाद दिया है। इसके कारण बहुत-सी ग्रन्थियां निर्माण होती है। ऐसी किसी ग्रन्थि के कारण ही उसने ऐसा किया है। इसलिए इस कृत्य के लिए तुम्हारा पति उत्तरदायी नहीं है।

यदि कोई विद्यार्थी ठीक से पढ़ता नहीं है तो आज का उदारवादी तत्त्वज्ञानी कहेगा कि इसके लिए विद्यार्थी उत्तरदायी और दण्डनीय नहीं है क्योंक हो सकता है कि उसे माता-पिता का प्रेम न मिलता हो, वह प्रेम का भूखा हो, प्रेम पाने के लिए पास पड़ोस में दौड़ता है। फलस्वरूप उसका सारा समय व्यर्थ जाता है और वह पढ़ने में मन नहीं दे पाता है, इसलिए अध्ययन न करने के लिए वह उत्तरदायी नहीं है।

इस प्रकार ये विचार मनुष्य को अपराध के दायित्व एवं ग्लानिबोध से मुक्त कर अपराध के लिए खुला प्रमाणपत्र देकर मन की दुर्बलताओं को उजागर कर मनुष्य को हीनतर, अपराधी एवं समाज विरोधी बना रहे हैं। इसलिए आन्द्रे मालरो ने लिखा है, 'पिछली अर्धशताब्दी से मनोविज्ञान मानव में शैतान की प्रतिष्ठा करने के लिए लगातार कोशिश करता रहा है। मेरा विश्वास है कि अगले पचास वर्षों में वह मानव के भीतर पुनः देवताओं की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नशील होगा।'

भारतीय मान्यता काम को खुली छूट नहीं स्वीकारती वैसे ही काम दमन को भी अस्वीकार करती है क्योंकि समयोचित यौवनाकर्षण होना स्वाभाविक है, स्वस्थता का परिचायक है। न होना अस्वस्थता, नपुंसकता का परिचायक है। इन्द्रियां बनी ही है सांसारिक भोग के लिए अतः अविवेकपूर्वक काम का दमन स्वीकार नहीं है।

जब हम सामयिक भावावेग में आकर या अपनी विवशता के कारण या यौन जीवन के प्रति गलत धारणा बनाकर जैसे यौन जीवन से आज तक कोई तृप्त नहीं हुआ, इससे पतन होता है, बड़ा भयंकर परिणाम आता है, सुख थोड़ा और दुःख एवं जिम्मेदारियों का अम्बार खड़ा हो जाता है। अतः इसका कठोरतापूर्वक दमन कर दिया जाये और उसे दबा देते हैं तो वह वास्तव में नष्ट नहीं होती है उसकी चाहना मन में बनी रहती है। सामयिक भावावेग बहुत देर तक स्थित नहीं रह पाता फलतः विषयों का स्मरण होने लगता है और फिर वह गलत उपायों से अपनी वासनाओं को शान्त करने, उसे तृप्त करने में प्रयासरत होता है। इस प्रकार पहले मिथ्याचारी फिर पाखण्डी, दम्भी बनता है। उसकी विषय वासना उसके मन में उत्पात मचाये रखती है, उसमें शारीरिक व मानसिक विकृतियां उत्पन्न हो जाती है, उसका स्वाभाविक विकास रुक जाता है क्योंकि सारा समय विषय वासना ही उसमें उत्पात मचाये रखते हैं उससे हटकर वह चिन्तन या कार्य नहीं कर पाता है।

यहां भारतीय चिन्तन पाश्चात्य चिन्तन से सहमत है कि काम दमन करने से काम से निवृत्ति नहीं हो जाती है वरन् अचेतन के गर्त में चली जाती है और वहीं से मनुष्य के जीवन एवं कार्यकलापों को प्रभावित करती है और अनेक मानसिक एवं शारीरिक व्याधियों के कारण बनते हैं। सम्भवतः ऐसे व्यक्ति जो अपनी अधिकार सम्पदा, पात्रता व सामर्थ्य का विचार किये बिना बड़े लाभ की आशा में काम का या प्रवृत्ति मार्ग का परित्याग कर संन्यास मार्ग अवलम्बन कर लेते हैं और असमय में वैराग्य भाव धारण करने से उनको काम की मार पड़ती है। और काम के मार की दंश का वर्णन भर्तृहरि ने इस प्रकार किया है—

ते कामेन निहत्य निर्दयतां नग्नीकृता मुण्डिता
केचित्-पंयशिखीकृताश्च जटिला कपालिकाश्चापरे।

कामदेव की निर्दय मार से घायल बेचारे तरह-तरह के फकीरी पंथी में शामिल होकर कोई तो नग्न फिरते हैं, कोई सिर मुंड़ाये रहते हैं, कोई पांचशिखा रख लेते हैं, कोई जटा बढ़ा लेते हैं, कोई कपाल लिए फिरते हैं पर ये सब निशान कामदेव की मार के ही हैं (यह सब मानसिक विकृति के परिणाम हैं न कि स्वस्थता के)।

जहां पाश्चात्य विचारक फ्रायड अचेतन मन की बात करते हैं वहां भारतीय मनीषी संस्कारों की बात करते हैं, अनन्त जन्मों के संस्कार सांसारिक विषय वासनाओं से निवृत्त होकर उच्च जीवन की ओर प्रवृत्त नहीं होने देते।

व्यास पुत्र शुकदेवजी माता के गर्भ से बाहर आते ही वन परायण करने लगे तब व्यासजी उन्हें रोककर समझाते हैं कि द्विज के बालक को पहले विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर वेदाध्ययन करना चाहिये। तदनन्तर उसे गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिये। उसके बाद ही मोक्ष प्राप्त होता है। अन्यथा पतन अवश्यम्भावी है।

स्कन्द पुराण, नागर खण्ड पूर्वार्ध 150, देवी भागवत स्कन्ध 1 अ. 4-5

इस दृष्टि के आधार पर ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का विधान है। साधारणतया 25 वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम का विधान है। इसे बसु ब्रह्मचारी कहा जाता है। यदि किसी को ज्ञानार्जन की इच्छा और अधिक है तो 36 वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम में रह सकता है उसे रुद्र ब्रह्मचारी कहा जाता है। और जो 48 वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम पालन करता है उसे आदित्य ब्रह्मचारी कहा जाता था। तथा जो सम्पूर्ण जीवन ज्ञानार्जन में और ब्रह्म प्राप्ति के ही दृष्टि से व्यतीत करना चाहते हैं, सांसारिक जीवन में प्रवेश करने की इच्छा नहीं उसके लिए नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अथार्त् निष्ठापूर्वक जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत के पालन का विधान है। यदि कोई व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करना चाहे तब नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन बताया गया है परन्तु गृहस्थाश्रम लांघ कर संन्यासी या वानप्रस्थी होने का विधान कहीं नहीं है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहने की इसलिए अनुमति है कि ब्रह्मचारी रहते हुए यदि व्यक्ति को किसी समय कठोर नियम पालन में कष्ट प्रतीत हो अथवा उसे सांसारिक जीवन में प्रवेश करने की इच्छा जागृत हो जाये तो वह गृहस्थाश्रम अर्थात् अगले आश्रम में प्रवेश कर सकता है। परन्तु सांसारिक जीवन से ऊपर उठे हुए संन्यासी को, समाज के सामने आदर्श रूप में जो है उसे, संन्यास से पुनः गृहस्थ में प्रवेश का धर्म विधायकों को मान्य नहीं है। इसी कारण कहा गया है कि व्यक्ति सांसारिक जीवन से संतुष्ट होकर ही वानप्रस्थी अथवा संन्यासी हो जिससे कि उसके पतन की लगभग कोई सम्भावना शेष न रहे। बिना गृहस्थाश्रम व्यतीत किये संन्यास में जाने का अथवा बिना गृहस्थाश्रम के कर्तव्य पूरे किये संन्यास ग्रहण करने का बहुत विरोध धर्मशास्त्रों में किया गया है। अपवाद हो सकते हैं जैसे शुकदेव जिन्हें जीवन के प्रारम्भ में गर्भकाल में ही अथवा किसी को मध्य में ही परिपूर्ण ज्ञान हो जाये परन्तु सर्वसाधारण को इच्छानुसार संन्यास ग्रहण कर लेना उचित नहीं है।

गीता न काम को खुली छूट देने की समर्थक है और न काम दमन को ही स्वीकार करती है। गीता इन दोनों के बीच में मध्यम मार्ग का प्रतिपादन करती है—

युक्ताहार-विहारस्य, युक्त-चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त-स्वप्नाव-बोधस्य, योगो भवति दुःखहा।।6/17

जो व्यक्ति उचित मात्रा में उचित समय पर उचित विधि से खान-पान, विश्राम, जागरण आदि समस्त कर्तव्य कर्म करता है उसके लिए योग बड़ा सरल है और दुःखों को दूर करने वाला बन जाता है। इसी से प्रेरणा प्राप्त कर भगवान् बुद्ध ने मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया। न वीणा के तार को इतना कसो कि टूट ही जाये और न इतना ढीला छोड़ो कि उससे ठीक स्वर न निकले। जीवन लम्पट एवं चरित्रहीन हो जाये और न तपस्या में उतना कसो कि इन्द्रियां ही सूख जाये और जीवन की तार टूट जाये। कपिलवस्तु का राजवैभव एक अति सीमा थी और चिथड़े पहनकर निराहार रहकर शरीर को कंकाल बना देना दूसरी अति सीमा है। अति का आचार ही अत्याचार होता है। संयमहीन व्यक्ति समाज से अत्याचार करता है, समाज के लिए अभिशाप बन जाता है। तथा अति कठोर तपस्या में शरीर सुखानेवाला अपने प्रति अत्याचार करता है। सिद्धार्थ ने जाना कि जीवन की नौका दोनों अतियों के चट्टानी तटों से बचकर बीचधार में मध्यम मार्ग में चलनी चाहिये।

स्वयं भगवान् बुद्ध ने कठोर तप के द्वारा शरीर को सुखा दिया था। तप काल में उन्होंने आहार की मात्रा घटाते-घटाते चावल का एक कण मात्र लेने का व्रत लिया फिर केवल पत्ते खाकर, फिर केवल जल पर, फिर केवल वायु पर निर्वाह करने लगे। इससे उनका शरीर सूखकर कंकाल मात्र रह गया था। एक दिन शरदपूर्णिमा की रात्रि को मगध की राजकुमारी सुजाता एक खीर का पात्र लेकर वन देवता के पूजन के लिए आयी, सिद्धार्थ के कंकाल शरीर को ही साक्षात् वन देवता समझकर उसने खीर का पात्र उनके सम्मुख समर्पित किया। सिद्धार्थ ने अकस्मात् खीर को खा लिया जिससे उनकी सूखी हुई अन्तड़ियों में खीर जैसा गरिष्ठ पदार्थ जाने से रक्तातीसार अर्थात् खूनी पेचिस हो गयी। आचार्य रुद्रक के पांच विद्यार्थी भी इनके शिष्य बनकर तपस्या कर रहे थे। उनके पांचों शिष्यों ने यह सोचकर कि गुरु ने व्रत भंग कर दिया है उनका साथ छोड़ दिया। सिद्धार्थ अपने मलीन और दुर्बल शरीर को धोने के लिए घसीटते हुए निरंजन नदी के जल के तट तक लाये। किन्तु अति दुर्बलता के कारण अचेतावस्था में उनका शरीर नदी की धार में बहने लगा। कुछ आगे जाकर नदी की धारा के बीच पर एक शिला पर अटक गया। अर्ध-रात्रि को उन्हें स्वप्न हुआ कि इन्द्र वीणा बजा रहे हैं। तारें ढीली होने के कारण संगीत भद्दा निकलता था, तार कसने पर संगीत मीठा होने लगा और

पूरी कस जाने पर संगीत उत्तम और मधुर हो गया। तनिक और अधिक कसने पर संगीत तीखा और कसने पर और तीखा कुछ और कसने पर तार टूट गये और सिद्धार्थ का सपना भी टूट गया। सिद्धार्थ उठकर नृत्य करने लगे। 'मुझे जीवन का रहस्य स्वर्णिम मध्यम मार्ग मिल गया।' सिद्धार्थ का मध्यम मार्ग गीता के मध्यम मार्ग की पुनः प्रतिष्ठा है। अरस्तू ने भी कहा कि सद्‌गुण दो अतियों के बीच स्वर्णिम सन्धि है। इस प्रकार गीता जीवन का मध्यम मार्ग अपनाने एवं अतिशय से बचने का कहती है।

परन्तु पतंजलि द्वारा उपादिष्ट योग क्रिया से यह अतिशयता से बचाव बिलकुल भिन्न है। पातंजल योग ने एक ऐसी विधि का वर्णन किया है जिसके द्वारा योगी शनैः-शनैः अपने जीवन की ऐसी अवस्था में अभ्यस्त हो जाता है कि अन्ततोगत्वा खाना-पीना पूर्ण रूप से छोड़ सकता है एवं शरीर और मन को निश्चल बना सकता है।

भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-2 दास गुप्ता पृ. 445

पतंजलि योग वस्तुतः उच्च अधिकारियों के लिए है जिनका मन भोगों (लौकिक एवं पारलौकिक) से उपराम हो चुका है। योग का अन्तिम लक्ष्य चित्तवृत्ति निरोध है और यह निरोध शरीर की सम्पूर्ण गतियों को रोके बिना सम्भव नहीं है। इसके लिए ऐसे साधनों का अभ्यास करना पड़ता है जिसमें शरीर के आहार-विहार की आवश्यकता उसमें बाधा उत्पन्न करती है। अतएव उसमें ऐसे अभ्यास का निर्देश है जिनसे शरीर आहार-विहार की आवश्यकताओं से मुक्त हो जाये। तो यह उच्च साधकों के लिए है। पर गीता का मार्ग आम लोगों के लिए है जो संसार के कर्तव्य करते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

अतः गीता मध्यम मार्ग की समर्थक है न भोगों को खुली छूट और न ही उनका कठोरतापूर्वक दमन वरन् साधक यथायोग आहार-विहार प्राप्त करे। तो इस प्रकार हम देखते हैं भारतीय परम्परा भोगों के दमन का समर्थन नहीं करती। बौद्ध धर्म के पतन का बहुत बड़ा कारण इस भारतीय परम्परा का उल्लंघन करना है। जब भगवान् बुद्ध चतुराश्रम व्यवस्था का उल्लंघन करके ब्रह्मचर्य से सीधे भिक्षु पद की दीक्षा देने लगे। बाद में भगवान् बुद्ध के न चाहते हुए भी स्त्रियों को संघ में प्रवेश मिल गया तो बड़े दुःख के साथ आनन्द से कहा था यह आन्दोलन जो 1500 वर्ष शुद्धता से चलता अब 500 वर्ष में समाप्त हो जायेगा। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुणियों के कठोर नियम बनाये। सावधानी रखी। पर कालान्तर में भिक्षु-भिक्षुणियों के मठ आमने-सामने बनने लगे। कालान्तर में बौद्ध धर्म को राज्याश्रय मिल गया जिससे बौद्ध विहारों में सब सुख-सुविधायें, सम्मान एवं निश्चित जीवन उपलब्ध होने लगा। परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में अल्प वयस्क तरुण-तरुणी के

दल के दल भिक्षु-भिक्षुणी बनने लगे और उनके आमने-सामने मठ बन गये। दीर्घकाल तक कठोर संयम पालन करना उनके लिए सम्भव नहीं हुआ और बीच में गृहस्थाश्रम की कड़ी न होने से उनका मन वाममार्ग की ओर झुक गया जहां पंच मकार की छूट है। फिर भिक्षु-भिक्षुणियों में खुलकर व्यभिचार, पापाचार चलने लगा। अंगदेश (मुंगेर, भागलपुर के) बौद्ध सिद्धों, कणहपा सिरहपा आदि ने बौद्ध दर्शन में वामाचारी तांत्रिकों के पक्ष को मिश्रित करके अपने धर्म ग्रन्थ की वाणियों में पंच मकार- मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन की प्रशंसा लिखनी प्रारम्भ कर दी तथा इस अति सीमा तक लिखने लगे कि डोमिनी या रंजकी के साथ सम्भोग करने पर तुरन्त निर्वाण पद की प्राप्ति हो जाती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में ऐसे भ्रष्ट बौद्ध सिद्धों की वाणियों को उद्धृत किया है।

अर्जुन ने युद्ध न करने के पक्ष में एक यह तर्क भी दिया था युद्ध में पुरुष वर्ग मारे जायेंगे, स्त्रियां असमय में वैधव्य को प्राप्त होगी, सभी सतीधर्म या संयम का पालन कर नहीं सकेगी फलतः वर्णसंकर संतानों को उत्पन्न करेंगी।

परेच्छा से काम दमन के दुष्परिणाम का सुन्दर उदाहरण हैं स्वामी चिड़चिड़ानन्दजी जिनका जीवन वृत्त सन्मार्ग में छपा था जो इस प्रकार है—

बिलकुल दुबले-पतले ठिंगने कद के उस युवा संन्यासी के तेवर सदा चढ़े रहते थे और हम बच्चों को उसे चिढ़ाने में खासा मजा आता था। उसका भी जैसे बच्चों के साथ प्रेम और तिरस्कार का अजीब रिश्ता था। हम लोग उसे छेड़ते थे तो वह हमें दौड़ाता था, पर अगर हमने उसे देखकर उसे नहीं चिढ़ाया तो वह बड़बड़ाने लगता था 'सब गधे मर गये हैं। आज बात करने को भी कोई नहीं मिल रहा है।' उसकी यह अपेक्षा होती थी कि हम बच्चे उसे चिढ़ायें, छेड़ें, वह हमें दौड़ाये और हम भागें। इस सब में उसे आनन्द आता था और अगर हममें से कोई उसकी उपेक्षा करता था तो उसे बुरा लगता था।

दूसरी ओर हमारे घर के बड़े लोग थे जिन्हें यह बिलकुल पसंद नहीं था कि हम किसी संन्यासी को छेड़ें या चिढ़ायें जिसने संसार का त्याग किया हो। उसे बच्चे तंग करें इस पर किसी को भी क्रोध आना स्वाभाविक है। हम बच्चे दुविधा की अजीब स्थिति में थे। उस युवा संन्यासी को चिढ़ाने में हमें आनन्द आता था और हम यह भी समझ गये थे कि वह भी केवल दिखावे के लिए नाराज होता है। दूसरी ओर घर के बड़ों की इच्छा ही नहीं अपना मन भी कहता था किसी गरीब संन्यासी को चिढ़ाना ठीक नहीं। बालोचित उच्छृङ्खलता और विवेक के इस संघर्ष में कभी एक की जीत होती तो कभी दूसरे की। हम संन्यासी को चिढ़ाते और वह हमें दौड़ाता। हमने उसके कई नाम रख छोड़े थे—मरियल स्वामी, स्वामी

चिड़चिड़ानन्द, सींक स्वामी इत्यादि। इन सब नामों से तो वह चिढ़ता ही था, पर अगर हम में से किसी ने हाथ जोड़कर आदर से उसे 'नमो नारायण' कह कर अभिवादन किया तब भी वह ऐसे फट पड़ता था मानो हमने उसे गाली दी हो।

पर उसे हम कितना भी तंग करें उसने कभी हमारे लिए अपशब्द का प्रयोग नहीं किया, हाथ उठाने का तो सवाल ही नहीं था। वह हमें दौड़ाता था, पीटने की धमकी देता था, पर अगर हममें से कोई उसके हाथ लग जाता तो या तो वह उसे ऐन मौके पर बच निकलने का मौका देता था या झूठमूठ मारने का अभिनय कर छोड़ देता था।

हमारे लिए तो वह अपशब्द का प्रयोग न करता था, पर हमें यह देखकर आश्चर्य होता था कि कभी-कभी जब उसे सनक सवार हो जाती थी तो वह बीच रास्ते खड़ा होकर पूजा-पाठ और कर्मकाण्ड करने वाले ब्राह्मणों पर गालियों की बौछार करता था। गाली देते-देते वह इतना उत्तेजित हो जाता था कि उसके मुंह से झाग निकलने लगता। गालियों की यह बौछार तभी बन्द होती जब वह थक कर चूर हो जाता। इन गालियों के बीच में वह कई बार पंडितों और ब्राह्मणों को उसका सत्यानाश करने के लिए कोसता और उन्हें शाप देता कि जो उन्होंने उसके साथ किया है, वैसा ही भगवान् उनके बाल बच्चों के साथ भी करे और उनका निर्वंश हो जाये।

ब्राह्मणों से उसे इतनी घृणा क्यों थी यह पूछने का तब हम लोगों में साहस न था। और अगर कारण बताया जाता तो उसे समझने की बुद्धि भी न थी। उस संन्यासी को चिढ़ाना तो हमारा प्रिय मनोविनोद था। बरसों बाद जब हम लोगों को समझ आयी तब हमें पता चला कि उसके व्यवहार के पीछे कितनी व्यथा और पीड़ा छिपी थी। पर तब उसको शरीर छोड़े अरसा बीत चुका था और केवल थोड़े से ही लोगों को उसकी याद बाकी थी।

दक्षिण महाराष्ट्र के किसी दूर गांव में रहने वाली गरीब ब्राह्मण विधवा का इकलौता बेटा संस्कृत पढ़ने की इच्छा से काशी आया। आकांक्षा थी कि वह पण्डित बनकर नाम कमायेगा और गांव वापस जाकर पाठशाला चलायेगा। मां को आशा था कि बेटा लौटने के बाद शादी करेगा और वह पोते-पोतियों को खिलाने में बुढ़ापा काट देगी। लड़का बुद्धिमान था और साथ-साथ मेहनती भी। मां और बेटा दोनों की आकांक्षा सफल होना सम्भव ही नहीं लगभग निश्चित भी था क्योंकि लड़के ने प्रथमा और मध्यमा परीक्षा अच्छी तरह पास कर ली थी और अब वह शास्त्री परीक्षा की तैयारी कर रहा था। इसमें भी उसकी सफलता निश्चित थी और उसके बाद वह गांव लौटने का सपना देख रहा था। उसे क्या मालूम था कि उसके भाग्य में सफलता नहीं निराशा लिखी थी।

शास्त्री परीक्षा की तैयारी करते-करते उसे बुखार आने लगा। वह एक ब्राह्मण के घर रहता था और अन्न क्षेत्र में एक समय भोजन करता था। शाम का भोजन ब्राह्मण के यहां करता था और उसके एवज में घर का काम करता था और बच्चों को पढ़ाता था। उसकी शुश्रूषा करने वाला कोई रिश्तेदार तो था नहीं, उसके मित्रों ने और ब्राह्मण परिवार ने ही सेवा टहल की। पर बुखार था कि हटने का नाम ही नहीं लेता था। वह मियादी बुखार था और वह भी पूरे इक्कीस दिन का। मियादी बुखार उन दिनों घातक रोग समझा जाता था और उसकी चिकित्सा का प्रधान अंग था निराहार। बीमारी और निराहार के कारण उसकी काया जर्जर हो गयी और अधिकांश समय वह तन्द्रा में ही रहता।

इक्कीसवां दिन कांटे का दिन था। बुखार उतरकर शरीर का तापमान सामान्य हो सकता था तो दूसरी ओर यह भी सम्भव था कि तापमान गिरता ही चला जाये और देखते-देखते प्राण पंखेरू उड़ जाये। बुखार उतरना शुरू हुआ और वह उतरता ही गया। हाथ-पैर ठण्डे पड़ गये नाड़ी मुश्किल से ही हाथ लग रही थी। अन्त निकट दिखायी पड़ रहा था। उसके पास उसके एक-दो मित्र और जिस ब्राह्मण के यहां वह रहता था वे थे। काशी में यह धारणा थी कि अगर कोई ब्रह्मचारी की ऐसी हालत हो जाये तो उसे तत्काल संन्यास देने से और कुछ नहीं तो कम से कम उसकी मुक्ति निश्चित हो जाती है। वह जीवन के उस आश्रम में पहुंच जाता है, जहां मनुष्य मृत्यु का वरण करता है। संन्यास ग्रहण करने से उसके सब पाप धुल जाते हैं। उसकी अन्त्येष्टि आसान हो जाती है और श्राद्ध की भी झंझट नहीं रह जाती। इस आतुर संन्यास की विधि भी आसान होती है। यज्ञोपवीत और शिखा से मुक्त कर, गेरुए वस्त्र पहनाने और कुछ थोड़े से मंत्रों से ही सारी क्रिया पूरी हो जाती थी।

उस ब्राह्मण ने भी ऐसा ही किया। पर जैसे ही यह प्रक्रिया पूरी हुई, शरीर में फिर से प्राण का संचार हुआ। मानो संन्यास के कारण पाप, रोग सब दूर हो गये हों और पुनर्जन्म हो गया हो। उस युवक को जब होश आया तो उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उसका सिर मुंडा हुआ था और शरीर पर गेरुआ वस्त्र था। जैसे-जैसे वह ठीक होने लगा, उसे अपनी स्थिति का भान हुआ। जिस ब्राह्मण के यहां वह रहता था उसने कह दिया था कि संन्यास लेने के बाद वह उसके घर में नहीं रह सकता और उसे संन्यासियों के लिए बने किसी मठ में जाकर ही रहना पड़ेगा। जिस गुरु से वह पढ़ता था उसने एक संन्यासी को पढ़ाने से इनकार कर दिया। उसने कहा कि संन्यासी का ध्येय विद्याध्ययन नहीं तपस्या है और उसे अब अपने नये आश्रम के अनुरूप रहकर भिक्षावृत्ति पर निर्भर रह कर तपस्या करनी होगी।

सबसे बुरी बात यह थी कि एक बार किसी भी तरह क्यों न हो संन्यास ग्रहण करने के बाद वापस जाना असम्भव था। सन्त ज्ञानेश्वर के पिता ने ऐसा

किया था और शास्त्री तथा पण्डितों के दुराग्रह के कारण उनको तथा उनकी पत्नी को जलसमाधि लेनी पड़ी थी। इसलिए इस युवक को अब आजीवन संन्यासी बने रहने के सिवा कोई चारा न था। यह कटु सत्य स्वीकार करना उसके लिए लगभग असम्भव हो गया। वह चीखा-चिल्लाया पर समाज के कठोर बन्धनों से उन दिनों कोई छुटकारा न था। उसकी मां पुत्र संन्यासी हो गया यह सुनकर लगभग पागल हो गयी और शीघ्र ही चल बसी।

समय बीतता गया और उस युवक संन्यासी ने जीवन के साथ समझौता कर लिया। आज का समय होता तो शायद उसने एक दिन गेरुए वस्त्रों का त्याग कर घर बार बसा लिया होता पर, पचास-साठ साल पहले यह असम्भव था। धीरे-धीरे उसने अपने को अपने नये जीवन में ढाल लिया, पर तब भी पंडितों और ब्राह्मणों के विरुद्ध उसके मन में क्रोध बाकी रहा और वह यदा-कदा फूट निकलता था। संन्यासी बनाने से उसकी जान बची यह दलील उसके आगे बेकार थी क्योंकि वह दो टूक उत्तर देता 'ऐसे जीवन से तो मृत्यु ही बेहतर है।'

तब मैं छोटा था और उसके आक्रोश का कारण न समझ सकता था। पर आज मैं सोचता हूं कि वह जब पंडितों और ब्राह्मणों को गाली देता था तो यह आक्रन्दन और आक्रोश उसका नहीं उसकी उन आशाओं का था जो कभी पूरी न हो सकी-विवाह करने की और घर-बार बसाने की। उसका चिड़चिड़ापन बढ़ता ही गया, अब वह कहीं भी, मौके-बे-मौके ब्राह्मणों को गाली देने लगता, तो कभी किसी पंडित से गिड़गिड़ाकर अपने विवाह की व्यवस्था देने के लिए कहता।

और एक दिन हमने सुना कि उसने फांसी लगाकर आत्महत्या कर ली। बड़े प्रयत्न से लोगों ने इस बात को छिपाया, क्योंकि वे पोस्टमार्टम की दुर्गति से उसके शव को बचाना चाहते थे। उन्होंने चुपचाप जल्दी-जल्दी उसकी अन्त्येष्टि कर दी-संन्यासी को पत्थर में बांधकर गंगाप्रवाह कर दिया जाता है—और इस प्रकार एक ऐसी देह का विसर्जन हुआ जिसने कोई भोग नहीं किया था, जिसने त्याग का वरण नहीं किया था, उसे समाज ने त्याग के लिए बाध्य कर दिया था।

इस प्रकार समय से पूर्व या अपरिपक्वावस्था में या अनधिकारी व्यक्तियों द्वारा भोगों के परित्याग से कुछ दिनों में ही उनका सामयिक आवेग समाप्त हो जाता है और भोगेच्छा बल पकड़ने लगती है परिणामस्वरूप वह मन से विषयों को काल्पनिक रूप से भोगने लगता है फिर दूसरी स्थिति यह आती है कि वह गलत तरीकों से अपनी भोगेच्छा की पूर्ति करने लगता है और समाज में व्यभिचार फैलाता है जैसा कि बौद्ध धर्म वामाचार्य की ओर प्रवृत्त होकर हुआ। इस गलत विधि के कारण उसकी न भोगों से पूरी तौर पर तृप्ति ही हो पाती है और न ही

उससे उसका उत्थान हो पाता है। वरन् अनेक प्रकार की मानसिक कुण्ठायें जन्म ले लेती है जिससे अनेक शारीरिक, मानसिक विकृतियां, कुण्ठायें एवं रोग उत्पन्न होते हैं। फ्रायड ने काम दमन के जो दुष्परिणाम बताये हैं किस तरह इससे मानसिक एवं शारीरिक विकृतियां उत्पन्न होती हैं इससे भारतीय आचार्य पूरी तौर पर सहमत हैं। फ्रायड से सहस्रों वर्ष पूर्व योगवाशिष्ठकार ने आधि से व्याधि उत्पत्ति के अनेकों दृष्टान्त दिये हैं।

काम दमन का दुष्परिणाम यह होता है उसे माया मिली न राम वाली कहावत चरितार्थ होती है। धोबी का कुत्ता घर का न घाट का वाली स्थिति होती है। यानी सांसारिक सुख भोगों को वह त्याग चुका होता, और भगवान् के भजन में मन नहीं लग पाता। यदि वह घर में रह सांसारिक सुख भोगों को भोगता तो एक समय आता कि वह स्वाभाविक रूप से क्रमशः ऊपर उठ जाता है फिर भोगों से विरक्त होकर पूर्णतया पारमार्थिक साधना में लग सकता। वह अपने घर में ही रहकर कुल-वर्ण के अनुसार कर्म करते-करते और महात्माओं की संगति तथा उनकी सेवाटहल से संसार की असारता, अपने नातेदारों की स्वार्थपरता एवं ईश्वर की भक्ति करते हुए प्रह्लाद, जनक और अम्बरीष प्रभृति की तरह घर में रहकर ही सिद्धि लाभ करता। पर नादान लोग बिना पूर्ण वैराग्य और ज्ञान के घर-गृहस्थी को छोड़कर वन में चले जाते हैं, कामिनी-कांचन के प्रति आसक्ति को नहीं छोड़ पाते, इसलिए सांसारिकों की निन्दा एवं भय से लुक-छिपकर भोगों को भोगते हैं। फलस्वरूप न उससे तृप्ति होती है और न परमात्मा में ही मन लगा पाते हैं परिणामस्वरूप लोक और परलोक दोनों ही बिगाड़ते हैं। इस प्रकार भारतीय परम्परा काम दमन का समर्थन नहीं करती।

ईसाइयत में काम शैतान है, पाप है, अपराध है। ईसाइयत में मातृत्व को बड़ी हेय दृष्टि से देखा गया है। वहां के साहित्यकारों ने मां को बड़ी-बड़ी गालियां दी हैं, तुम ही मुझे पाप के संसार में लाने वाली हो। वहां मां-पुत्र का सम्बन्ध पावन नहीं है। वहां विवाह भी न्यूनतम अपराध है। विवाह के पश्चात पति-पत्नी के समागम पर बड़े कड़े विधि निषेध थे चर्च के द्वारा। निर्बन्ध भोग का अधिकार केवल पादरियों को है। ईसाई धर्म में काम को अपराध समझकर उसे दबाने का, कठोर दमन का प्रयास किया गया है। वहां पुरुषों को यह सोचना सिखाया गया है, काम सम्बन्ध मानो दुष्कर्म है दुष्ट कर्म हो, अनिष्टकारी या विपत्तिदायक कर्म हो, इविल है। अतः वे (अन्तर्मन में) स्त्री से डरते हैं एवं घृणा करते हैं, क्योंकि वही तो उस पुरुष को खतरनाक काम वासना के दलदल में घसीट ले जाती है, अतः यूरोप और अमरीका का ईसाई समाज काम सम्बन्धों के प्रति घृणा एवं भय से आक्रान्त है। मध्ययुग में यूरोप में एक बहुत बड़ा ईसाई सम्प्रदाय था। जिसने लाखों लोगों की जननेन्द्रियां कटवा डाली, स्त्रियों

के स्तन कटवा डाले ताकि कामवासना से मुक्ति हो जाए। बहुतों ने आंखें फोड़ ली ताकि कोई सौन्दर्य उन्हें आकर्षित न कर सके, शरीर को कोड़े मारे, लहू बहाया ताकि शरीर कोई मांग न करे, रात-रात सोये नहीं ताकि सपना मन को काम विकार में न डाले। काम को पाप, शैतान, अपराध मानने का यह स्वाभाविक परिणाम था। ब्रिटेन में 19वीं शताब्दी तक अंग्रेज डाक्टर, पूरे अंग्रेजी समाज की सहमति से अंग्रेज लड़कियों का अंगभंग इस उद्देश्य से करते थे कि वे अतिशय काम सुख का स्वतः उपभोग न कर सकें। विक्टोरियन समाज में यह मान्यता पूर्ण प्रतिष्ठित थी कि काम भाव अशुभ है, दुष्टतापूर्ण है, इविल है। अतः वह समाज अविवाहित कन्याओं के बर्बर अंगच्छेदन को उचित ठहराता था। फ्रायड धर्म के नाम पर ईसाइयत के ऐसे ही सन्तों से परिचित था। और उसमें यह धारणा पैठ गयी कि धर्म कामदमन सिखाता है। इसलिए भी वह धर्म विरोधी हो गया और धर्म को एक पागलपन, एक अंधविश्वास समझने लगा था जो विज्ञान के प्रकाश में स्वतः लुप्त हो जायगा।

ईसाइयत में प्रवृत्ति मार्ग गृहस्थ धर्म के लिए न समुचित स्थान है और न निवृत्ति मार्ग संन्यास की सम्यक अवधारणा है। इनके यहां पादरी वेतनधारी ईसाई पंथ प्रचारक और विस्तारक हैं। इनके यहां संत भी चर्च द्वारा दी गई पदवी है। जिस किसी भी उपाय से (मिथ्याचार, पापाचार, बलात्कार, व्यापक हिंसा से) ईसाई पंथ का विस्तार किया वे सब संत हैं। इसमें बड़े से बड़े क्रूसेडर शामिल हैं। संन्यासी की कोई कल्पना इनमें नहीं है।

इस प्रकार अविवेक-पूर्वक काम दमन या इन्द्रिय दमन का समर्थन ईसाई परम्परा करती है, भारतीय परम्परा नहीं। यह स्पष्ट विभाजन हमें ध्यान में रखना चाहिये अन्यथा हिन्दू धर्म के विषय में अनावश्यक भ्रान्ति उत्पन्न होती है।

हमारे यहां निवृत्ति मार्ग का प्रतिपादन है वह प्रवृत्ति के बाद ही आता है और निवृत्ति मार्ग सिर्फ उच्च अधिकारियों के लिए है। इसलिए उसमें प्रथम में वेदान्त के अधिकारी की चर्चा है जो साधन चतुष्टय से युक्त है वे ही इसमें प्रवेश कर सकते हैं।

साधन चतुष्टय

(क) नित्यानित्य वस्तुविवेक।

(ख) इहामुत्रार्थ फलभोग विराम (इसमें लौकिक एवं पारलौकिक सभी कामनाओं का परित्याग)।

(ग) शम-दमादि षड्सम्पत्ति युक्त (शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा)।

(घ) मुमुक्षत्व।

इसमें शम के साथ दम भी है। फिर जहां-जहां दम का प्रतिपादन हुआ है उसके पीछे हमारी दृष्टि क्या है वह स्वतः आगे विस्तार के साथ स्पष्ट हो जायेगा। संक्षेप में हमारा सिद्धान्त विषय भोगों को मन से छोड़ देने से विषय तो छूट जाते हैं पर मन में उसका रस बना रहता है जो ब्रह्मदर्शन से ही निवृत्त होता है। पर ब्रह्म दर्शन सहज गम्य नहीं। कभी-कभी मन हठात् विषयों में चला जाता है, या विषयों का चिन्तन होने लगता है, विषय वासना जाग जाती है या कभी विषय भोग के सम्पर्क से भी कामना जागृत हो जाती है। ऐसी अवस्था में उससे निवृत्त होने के लिए पहले दमन करने को कहा जाता है। उसके पश्चात् उसका विवेक द्वारा शमन किया जाता है। प्रारम्भ में ये दोनों क्रियायें साथ-साथ चलानी पड़ती है।

भारतीय परम्परा न काम-भोग को खुली स्वतन्त्रता देती है और न उसके दमन की स्वीकृति देती है वरन् धर्म की मर्यादा में कामोपभोग को मान्यता देती है। इसके लिए गृहस्थाश्रम का विधान है। गृहस्थाश्रम में काम के ऐसे संयमित ढंग से पूर्ति करने की विधि है जिससे काम तृप्त भी हो जाये और धीरे-धीरे स्वतः इससे निवृत्त होकर ऊपर उठ जाये। गीता में स्वयं भगवान् कहते हैं—

धर्मा-विरुद्धो भूतेषु, कामोऽस्मि भरतर्षभ।।7/11

हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! जो धर्म के विरुद्ध नहीं है वह काम मैं ही हूं। वे पुनः कहते हैं—

प्रजनश्-चास्मि कन्दर्पः।10/28

अर्थात् प्रजनन करने वालों में कामदेव हूं। इस दृष्टि से धर्मपूर्वक कामना पूर्ति स्वयं एक ईश्वरीय कर्म ही नहीं वरन् स्वयं ईश्वर रूप ही बन जाता है। काम जैसे मानव के सबसे बड़े शत्रु को धर्म की मर्यादा में बांधकर गृहस्थ धर्म बना देना, काम को धर्म के आशीर्वाद से राम बना देना भारतीय संस्कृति का अद्भुत चमत्कार है। एक पवित्र माता या सती साध्वी स्त्री और घृणित वेश्या दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। काम के सेवन बिना कोई स्त्री माता नहीं बन सकती किन्तु उसके धर्म और संयम ने उसे पूज्यतम सिंहासन पर बैठा दिया। इसकी तुलना में धर्मविहीन अमर्यादित एवं संयमहीन काम ने वेश्या को सबसे पतित स्तर पर गिरा दिया। माता या गृह पत्नी के जीवन में काम गृहस्थ धर्म पालन के लिए होता है। किन्तु वेश्या के जीवन में काम अमर्यादित भोग-विलास के लिए होता है। भारतीय संस्कृति का कथन है आपकी जो भी कामना हो उसे धर्म पर चलते हुए पूरा करो और कामनापूर्ति के सुख को संयम के साथ भोगो। घर चाहिये तो धर्म पर चलते हुए घर प्राप्त करो, किसी का घर न लूटो, न उजाड़ो। यदि पत्नी चाहिये तो धर्म पर चलते हुए मर्यादानुसार पत्नी परिवार प्राप्त करो। किसी अन्य की पत्नी न चुराओ, न भगाओ, न भोगो, न ही ऐसा पाप संकल्प उठने दो। कोठी,

बंगला, कार, टी.वी. जो भी चाहिये धर्म पर चलते हुए प्राप्त करो। निरा काम भोग एक पाप है किन्तु गृहस्थ एक धर्म है। धर्म भारतीय जीवन के ताने-बाने का केन्द्रीय तन्तु है। यह ऐसा स्वर्णिम सूत्र है जो चारों पुरुषार्थों को अपने में पिरोये हुए मानव को मोक्ष की ओर ले जाता है। यह एक ऐसी पारसमणि है जो घटिया भावों रूपी लोहे को छूते ही खरा सोना बना देती है।

प्रथम विश्व युद्ध के समय रोगियों के इलाज में डाक्टरों ने पाया कि रोग स्त्री-पुरुष के काम भंग से नहीं होता वरन् क्रोध, भय आदि से भी भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। क्रोध सिर्फ काम भंग से नहीं वरन् किसी प्रकार के काम यानी अर्थ-काम, धन-काम, आदर-सम्मान काम आदि के भंग से पैदा होता है। फ्रायड ने अपनी अन्तिम पुस्तक में संकोच करते हुए स्वीकारा भी है कि 'काम' शब्द से उनका तात्पर्य केवल मैथुन्य जन्य काम से नहीं अपितु सब प्रकार के काम से है। (यह विस्तृत अर्थ अध्यात्मशास्त्र सम्मत है) पुरुषार्थ, ले. डॉ. भगवानदास पृष्ठ 262

काम को भगवान् ने गीता में सबसे बड़ा शत्रु बताया है। इसलिए भारतीय संस्कृति में काम का आदर्श मात्र कामना पूर्ति का उद्देश्य नहीं है। यह तो कामना को ऐसे संयमित ढंग से पूर्ति करने की विधि है जिससे काम भी तृप्त हो जाये और हम काम रूपी महान राक्षस के चंगुल से भी बच जायें।

गृहस्थाश्रम का मुख्य कर्तव्य समाज को सुयोग्य संतान देकर पितृ ऋण से उऋण होना है। अतः पुत्र उत्पादन एक धार्मिक कृत्य है। तीन प्रकार के संस्कारों का प्रभाव संतान पर पड़ता है। गर्भाधान के समय का पवित्र संकल्प गर्भकाल के समय माता के पवित्र आचारों एवं भावों का प्रभाव प्रसवकाल के पश्चात् माता-पिता के शिक्षा का प्रभाव पड़ता है। इसलिए गर्भाधान संस्कार में इसके लिए वैदिक मंत्र है जिसका भाव है कि वह धर्म का पुत्र है काम का नहीं। क्योंकि जैसे भावों की प्रधानता होगी वैसी ही संतान की प्राप्ति होगी। इसके लिए पति-पत्नी को पूर्व तैयारी मानसिक प्रस्तुति करनी पड़ती है।

वृहदारण्यक उपनिषद में गर्भाधान विधि को पवित्र यज्ञ कहा गया है। इसके अनुष्ठान के लिए अनेक नियमों की शृंखला बांध दी गई है। मैक्समूलर जैसे उच्च कोटि के विद्वान ने उक्त स्थल का आंग्लभाषा में अनुवाद न करके लैटिन में किया क्योंकि उनका विचार था कि वर्तमान सभ्य कहलाने वाले गन्दे संसार के लिए वे विचार इतने पवित्र है कि उनका महत्त्व समझ में नहीं आ सकता। लैटिन जन भाषा न होकर विद्वानों की भाषा है।

सेमिटिक परम्परा में विशेषकर ईसाइयत में सृजन पाप है। काम शैतान है। भारतीय परम्परा में धर्म के अविरुद्ध सृजन स्वयं में ईश्वरीय कृत्य है। धर्म के

विरुद्ध काम दण्डित होता है। धर्म के अनुकूल काम देव है, ईश्वरीय कर्म है। इसलिए भारतीय परम्परा में विवाह संस्कार है, गृहस्थ आश्रम है, ऋतु के अनुकूल काम सेवन गृहस्थ धर्म है। गर्भाधान संस्कार है। गर्भाधान संस्कार को समझने की आवश्यकता है। एक विराट् सत्ता जो अपने आपका अनुभव करना चाहता है। वही अपने आपको जीव, जगत्, ईश्वर के रूप में प्रकट करता है। उस महान् सत्ता को, पुण्यात्मा, दिव्यात्मा को, अनन्त पथ के पथिक को हम हमारे आंगन में आकर शिशु क्रीड़ा, बाल क्रीड़ा करने, किल्लोल करने, किलकारी मारने को आह्वान करते हैं। इसके लिए भाव की शुद्धि चाहिए, स्थान की शुद्धि चाहिए। हम जैसे-तैसे, जहां-तहां नहीं बैठते, उस स्थान को शुद्ध करते हैं, वहां आसन लगाते हैं, तब जाकर बैठते हैं। हम जैसे-तैसे भोजन नहीं करते, उसके लिए अनेक मर्यादाओं का पालन करते हैं। जब छोटी-छोटी बातों में इतनी सतर्कता बरतते हैं तो जीवन की इतनी बड़ी घटना है, जिसमें किसी पुण्यात्मा को बुला रहे हैं तो क्या उसके लिए भाव की शुद्धि, स्थान की शुद्धि नहीं चाहिए क्या? जिस भाव एवं संकल्प के साथ स्त्री-पुरुष का समागम होता है वैसी ही जीवात्मा आकृष्ट होकर हमारे आंगन में क्रीड़ा करने आती है। अन्यथा कोई असुर आ जावें। माता मदालसा, माता कुन्ती, माता जीजाबाई आदि का उदाहरण हमारे सामने है। अतः हमारे अन्दर शुभ संकल्प, पवित्र संकल्प उदित हो इसके लिए गर्भाधान संस्कार है। गर्भाधान संस्कार के लिए वेद में मंत्र है।

गर्भकाल में पुंसवन संस्कार, सीमन्तोन्नयन-संस्कार किया जाता है। इसमें माता के उच्च, पवित्र, वीर भाव का प्रभाव उसके संतान पर पड़ता है। बालक के जन्म लेने के पश्चात् के संस्कारों के अनुरूप संतान का विकास होता है। मनोविश्लेषणवाद के प्रवर्तक फ्रायड ने कहा कि बचपन में जब मां बच्चों को गोद में लोरियां दे रही होती है तब उस पर जो संस्कार पड़ जाते हैं वे मिटाये नहीं मिटते, आजन्म साथ रहते हैं।

सरोजिनी नायडू लिखती है—The hand that rocks the cradle shocks the whole world. माता का जो हाथ पालने को झुलाता है वह सारी दुनिया को हिला सकता है। उसी माता के संस्कारों से जो बालक विकसित होगा वह अपनी कर्तृत्व शक्ति से दुनिया को हिला देगा।

इस प्रकार माता-पिता के संकल्प की छाप बच्चे के मन पर पड़ती है। माता जीजाबाई ने अपने पवित्र दृढ़ संकल्प के आधार पर शिवाजी जैसा धर्मरक्षक वीर पुत्र प्राप्त किया तथा बाद में शैशव के संस्कारों से उसका समुचित विकास कर इतिहास परिवर्तन का चमत्कार कर दिखाया। इसी आधार पर अष्टावक्र ने गर्भावस्था में ही वेदान्त सीख लिया था। मदालसा गर्भावस्था में गाया करती

थी—शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि संसारमाया परिवर्जितोऽसि—इन संस्कारों के कारण उसकी आठों संतान ब्रह्मर्षि बने। उनके पति ने कहा इस प्रकार वंश कैसे चलेगा तब नवें पुत्र के उत्पन्न होने के समय उसने अपने संस्कारों की परिस्थिति को बदल लिया और नवां पुत्र सर्वगुण सम्पन्न क्षत्रिय हुआ।

प्रह्लाद की मां ने गर्भावस्था में नारदजी से भगवान् की कथा और महिमा सुनी थी। इसलिए उसका पुत्र प्रह्लाद परमभक्त हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण एवं रुक्मिणी ने बारह वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत एवं अनेक धार्मिक अनुष्ठान करके प्रद्युम्न जैसा पुत्र प्राप्त किया। गुरु तेगबहादुर ने विवाह के 20 वर्ष तक तपस्या करके गुरु गोविन्द सिंह जैसा पुत्र प्राप्त किया।

इस प्रकार पवित्र संकल्प एवं संस्कारों का प्रभाव संतान पर पड़ता है और भारतीय परम्परा कहती है उच्च कोटि की आत्मायें सद्गृहस्थों की ओर आकृष्ट होते हैं।

प्राप्य पुण्य-कृतां लोका,-नुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे, योग-भ्रष्टोऽभिजायते।।6/41

(किन्तु वह) योग-भ्रष्ट (जो प्रभु का आत्मरूपेण साक्षात्कार नहीं कर सका) पुण्यवानों के लोकों को (अर्थात् स्वर्ग आदि उत्तम लोकों को) प्राप्त होकर (उनमें) चिरकाल तक निवास करके (फिर) पवित्र और श्रीसंपन्न लोगों के घर में जन्म लेता है।

अथवा योगिना-मेव, कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभ-तरं, लोके जन्म यदी-दृशम्।।6/42

अथवा (पूर्वकथित से अधिक वैराग्य आदि साधन-संपत्ति वाला) ज्ञानवान योगियों के ही कुल में जन्म लेता है। (परन्तु) इस प्रकार का जो यह जन्म है, वह संसार में निःसंदेह अत्यंत दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धि-संयोगं, लभते पौर्व-देहिकम्।
यतते च ततो भूयः, संसिद्धौ कुरु-नन्दन।।6/43

(और वह पुरुष) वहां उस पहले शरीर में अर्जित बुद्धि-संयोग को (अर्थात् बोध के संस्कारों को) (अनायास ही) प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन (अर्जुन)! उसके प्रभाव से (वह) परमात्मा की प्राप्ति रूप सिद्धि के लिए (अर्थात् जीवन्-मुक्ति के लिए) पहले से भी अधिक प्रयत्न करता है।

जिस प्रकार उच्च पवित्र संकल्प का प्रभाव संतान पर पड़ता है वैसे ही निम्न कोटि के संकल्प का प्रभाव पड़ता है। कहते हैं कि अमेरीका के प्रेसिडेंट गारफील्ड

का हत्यारा गीटू जब माता के गर्भ में था, तब उसकी माता ने गर्भपात कर उसकी हत्या कर डालने का प्रयत्न किया था, वह गर्भपात नहीं कर सकी, परन्तु माता के गर्भ में स्थित उस संतान पर जो संस्कार पड़ चुके थे उन्होंने गीटू को हत्यारा बना दिया। यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि एक अमरीकन गौरी पत्नी के काला हब्शी उत्पन्न हुआ तो पति को पत्नी के चरित्र पर आशंका हुई। तलाक के मुकदमे के दौरान दोनों का रक्त जांच करके जब प्रसूत बालक के रक्त से मिलाया गया तो वह हब्शी शक्ल का बालक उस दम्पती द्वारा प्रसूत ही निश्चित हुआ। वैज्ञानिक बहुत विचार में पड़े। अंत में बहुत अनुसंधान करने के बाद मालूम हुआ कि उक्त दम्पती जिस कमरे में सोते थे उसमें सामने एक रेड-इंडियन नस्ल के हब्शी का चित्र लटका है। यह महिला उसे बड़े मनोयोग से अक्सर देखा करती थी। उससे निश्चित हुआ कि इसी का परिणाम यह विरूप संतान है।

इस प्रकार माता-पिता के संतानोप्राप्ति के संकल्प में मनोवैज्ञानिक शक्ति है जिसका प्रमाण इतिहास में बार-बार मिलता है।

नोट—सर्वोत्तम रीडर्स डाइजेस्ट- मार्च 1983 के लेख 'मां की कोख में'—

नई खोजों से सिद्ध हो गया है कि गर्भस्थ अभिमन्यु का चक्रव्यूह में प्रवेश की विधि सीख लेना सम्भव हो सकता है।

और 'मां, शिशु-शिक्षण और हृदय ग्रन्थियों लेख में श्री उद्धव आ. इसराणीजी (जो काशी विश्वविद्यालय के अवकाश प्राप्त प्राध्यापक, विज्ञानवेत्ता, ज्ञानयोग के साधक, प्रकांड पंडित, मनोविज्ञानवेत्ता तथा अनुभवी विद्वान हैं) ने ऐसे तथ्यों को सप्रमाण प्रस्तुत किया है।

इसलिए पवित्र गृहस्थाश्रम के दम्पती के पवित्र संकल्प से उत्पन्न संतान तथा नाइट क्लबों, व्यभिचार भवनों या कामवासना पूर्ति के भोग विलास के क्षणों में उत्पन्न संतान में देव और दानव का अन्तर अनिवार्य है।

गृहस्थाश्रम में शास्त्र की आज्ञा से, गुरुजनों की, बड़े-बुजुर्गों की, माता-पिता की आज्ञा से हम काम का, भोगों का मर्यादित ढंग से सेवन करके एक समय विशेष के पश्चात् स्वयं उससे ऊपर उठ जाते हैं, उपराम हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्टतः गृहस्थाश्रम एक दुर्ग के समान है जहां हम सुरक्षित रहते हुए अपने माता-पिता, भाई-बहिन, चाचा-चाची आदि सबके सहयोग से अपने शत्रु (काम-क्रोध, लोभ) पर विजय प्राप्त करते हैं। गृहस्थाश्रम उलझने के लिए नहीं, कामना के दलदल में फंसने के लिए नहीं है वरन् स्वयं के सुलझने व अन्यों को सुलझाने के लिए है, स्वयं के खिलने व अन्यों को खिलाने के लिए है। अपनी मधुरता, प्रेम, स्नेह, वात्सल्य व सेवा बिखेरने के लिए है।

गृहस्थाश्रम में हम एक मधुर सम्बन्ध को स्वीकारकर घर को एक पाठशाला, एक मन्दिर बनाकर, दोनों मिलकर जीवन को भव्य, सुन्दर, समृद्ध बनाते हैं। अपने प्रेम का, आत्मीयता का विस्तार करते हैं। पति-पत्नी के अन्दर एक ऐसी गांठ होती है जिसे न तो गुरु, न माता-पिता, न भाई-बहिन, न मित्र-सखा खोल सकते हैं। उसे तो केवल पति-पत्नी ही परस्पर की खोल सकते हैं। विवाह के पूर्व दोनों का दस पर मन जाता होगा पर विवाह बंधन के बाद एक-दूसरे पर केन्द्रित हो जाता है। संस्कारी पत्नी अपने पति को अन्य स्त्रियों से विरत कर अपने प्रति अनुरक्त रखती है। फिर समयविशेष आता है जब वह अपने से भी विरत कर देती है। इस प्रकार गृहस्थाश्रम एक दुर्ग है जहां हम सुरक्षित रहते हुए अपनी कामनाओं का परिपाक कर सर्वांगीण विकास साधित करते हैं।

पितृ ऋण चुकाने के पश्चात् संतान जब योग्य हो जाये गृहस्थ का कर्तव्य है कि वे वानप्रस्थी हो जायें। इसके पीछे भाव यह है गृहस्थ भी एक आश्रम है, एक पड़ाव है, जहां से गुजर जाना है, विषय भोगों में अपने आपको खो नहीं देना है। अतः प्रवृत्ति के पश्चात् निवृत्ति आनी चाहिये, प्रेय के पश्चात् श्रेय स्वाभाविक रूप से आना चाहिये। प्रवृत्ति का पर्यवसान निवृत्ति में होना चाहिये। यही स्वस्थ एवं स्वाभाविक दृष्टि है कि विषय भोगों के पश्चात् उससे ऊपर उठ जाये। यह भारतीय संस्कृति की विशेषता है उसने जीवन की डिजाइन ही ऐसे की है कि हम स्वाभाविक रूप से एक समय पश्चात् गृहस्थ से उपराम हो जायें। इसके पीछे एक भाव और भी था जिसे भर्तृहरि ने वैराग्य शतक में बड़े सुन्दर ढंग से दर्शाया है—

> अवश्यं यातारश्चिरमुषित्वाऽपि विषया
> वियोगे को मेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
> व्रजन्तः स्वातंत्र्यादतुल परितापाय मनसः
> स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदद्यति।।12।।

मनुष्य कितने ही वर्ष जीये, एक न एक दिन सब विषय उसको छोड़कर चले ही जायेंगे। तब फिर हे मन! तू स्वयं ही इनको उचित समय पर क्यों नहीं छोड़ देता? वियोग तो होना ही है, क्या दो प्रकार के वियोगों में कुछ भेद है? हां बड़ा भेद है; यदि तेरी इच्छा के विरुद्ध तुझे छोड़कर के चले गये तो तू रोता ही रहेगा, अनन्त परिताप भोगेगा, यदि तू स्वयं अपनी इच्छा से उनको दूर कर दे तब तू सदा ही हंसता ही रहेगा और अनन्त शान्ति-सुख पायेगा।

गृहस्थाश्रम को एक दुर्ग भी कहा गया है। क्योंकि इसमें मनुष्य को सभी प्रकार के भोगों को भोगने एवं अपने अन्दर सभी प्रकार की भावनाओं का प्रकाश करने का अवसर मिलता है, उन सबसे भलीभांति परिचित होकर उनका अन्तिम

परिणाम जानकर धीरे-धीरे स्वतः ऊपर उठ जाये, उपराम हो जाये कि बाद में किसी भी प्रकार से फिसलने का अवसर नहीं रहता है।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें धर्म की मर्यादा में रहते हुए सभी प्रकार के भोगों से तृप्त भी हो जायें, सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति भी हो जाये, फिर हम इससे भी ऊपर उठ जायें और आगे की यात्रा प्रारम्भ करें।

हम देख चुके हैं भारतीय परम्परा कामभोग को खुली छूट नहीं देती और न उसके दमन को स्वीकारती है वरन् सर्वसाधारण के लिए गृहस्थाश्रम का विधान है जिसमें धर्म की मर्यादा में कामोपभोग एवं उससे समुत्कर्ष का आदर्श रखा गया है। यह सर्वसाधारण के लिए राजमार्ग है।

पर कुछ उच्च अभ्यासी ज्ञानीजन हैं जो भोग का पूर्ण परित्याग करके ज्ञानजन्य विवेक द्वारा कामना एवं राग से मुक्त हो जाते हैं। इनका मानसिक गठन सर्वसाधारण से ऊंचा होता है। इनके जीवन में कोई महत्त उद्देश्य होता है। उस दिशा में काम का उदात्तीकरण हो जाता है। जैसे देवव्रत ने अपने पिता शान्तनु के लिए ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की थी और जीवनभर अच्छी तरह निभाया। वैसे ही चण्ड ने पिता के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। गांधीजी ने समाज सेवा के लिए 'ब्रह्मचर्य' का आरम्भ किया। दक्षिण अफ्रीका में काम करते समय उनके मन में विचार आया कि सेवा कार्य कठिन है। सेवा के साथ कुटुम्ब की भी वृद्धि होती जाये, बाल-बच्चे पैदा होते रहें, तो वह चल नहीं पायेगा। इसलिए उन्होंने निर्णय किया कि समाज की सेवा के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। बहुत से वैज्ञानिक बंधु ज्ञान अन्वेषण के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हैं। अंग्रेज काल में बहुत से क्रान्तिकारियों ने देश-मातृभूमि की सेवा के लिए आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। बहुत से साधक ईश्वर या सत्य प्राप्ति के लिए अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। इस प्रकार बिना भोग के विवेक द्वारा काम का शमन किया जा सकता है।

यहां संयम और दमन में स्पष्ट भेद है। हम पहले ही देख चुके हैं कि फ्रायड को केवल ईसाई दमनकारी संतों के वचन पढ़ने को मिले। उसे केवल उन्हीं धार्मिक लोगों की खबर मिली जिन्होंने काम इन्द्रिय का जबरदस्ती दमन किया। इससे फ्रायड की स्वाभाविक धारणा बन गई सब धर्म न्यूरोटिक है, पागलपन से भरा हुआ और मनुष्य जाति को विक्षिप्त करने वाला है। पर हिन्दू परम्परा इन्द्रिय दमन का समर्थन नहीं करती है। भगवान् श्री कृष्ण गीता में स्पष्ट कहते हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्-विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते।।3/6

अर्थात् मूढ बुद्धि का पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठपूर्वक रोक देता है पर इन्द्रिय भोगों का मन से चिन्तन करने लगता है वह मिथ्याचारी है। वस्तुतः इन्द्रियों को दबाने से मन दबता नहीं वरन् इन्द्रियों को दबाने से मन और प्रबल हो जाता है। इसलिए गीता ऐसे व्यक्ति को मूढ़ एवं उसके व्यवहार को मिथ्याचार कहती हैं। सवाल इन्द्रियों का नहीं वरन् मन का है क्योंकि इन्द्रियां मन के पीछे-पीछे चलती है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण अगले श्लोक में कहते हैं—

यस्-त्विन्द्रियाणि मनसा, नियम्या-रभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्म-योग,-मसक्तः स विशिष्यते।।3/7

हे अर्जुन! जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है। यानी श्रेष्ठ मनुष्य वह है जो मन को ही रूपान्तरित करके इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं।

फ्रायड काम प्रवृत्ति को ही एकमात्र जीवन प्रवृत्ति मानता है। इसके अलावा सभी प्रवृत्तियों को मृत्यु प्रवृत्ति मानता है। यह जन्मजात और स्वाभाविक है, इसकी तृप्ति में किसी भी नैतिक या सामाजिक बन्धनों को नहीं स्वीकारता है। मनुष्य जब अपनी ही नैतिक चेतना के विरुद्ध भोगों को भोगता है तो उससे उसे आत्मग्लानि होती है। पर वह इससे मनुष्य को मुक्त कर देता है क्योंकि उसके अनुसार मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है इसके लिए वह उत्तरदायी नहीं है। मन या काम से किसी उच्चतर सत्ता को स्वीकारता नहीं फलतः उसके रूपान्तरण या परिमार्जन का स्थान ही नहीं बचता। सामाजिक मर्यादा के कारण सभी भोगों को तृप्त कर नहीं पाता। फलतः उसके पास दमन का ही रास्ता बचता है। अतः फ्रायड विचार दर्शन में संयम के लिए स्थान ही नहीं रहता।

पर भारतीय विचार में काम या मन से ऊपर आत्मा की सत्ता स्वीकार की गई है। यही मौलिक एवं स्वाभाविक है। काम विचार तो आरोपित है, स्वाभाविक नहीं। आत्मा अपने सच्चे स्वरूप में आप्तकाम-पूर्णकाम है पर वह अपने इस स्वरूप का विस्मरण हो जाने से काम भाव प्रबल हो जाता है। अतः आत्म भाव को जगाकर कामभाव को रूपान्तरित या संयमित कर सकते हैं और यह मनुष्य के ऊपर निर्भर है। इसके लिए प्रकृति उत्तरदायी नहीं है। गीता में भगवान् कहते हैं—

उद्धरे-दात्म-नात्मानं, नात्मान-मवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु,-रात्मैव रिपु-रात्मनः।।6/5

बन्धु-रात्मात्मनस्-तस्य, येनात्मै-वात्मना जितः।
अनात्मनस्-तु शत्रुत्वे, वर्ते-तात्मैव शत्रुवत्।।6/6

मानव स्वयं ही अपना उद्धार करे और अपने को अधोगति में न पहुंचावे। मानव अपना मित्र और शत्रु स्वयं ही है। जिसने अपने को वश में कर लिया है, वह अपना मित्र और जिसने अपने को नहीं जीता है, वह स्वयं ही अपना शत्रु है।

इस प्रकार मनुष्य अपने कर्तृत्व के लिए स्वयं उत्तरदायी है। वह स्वयं अपने कर्तृत्व या संयम द्वारा मन पर विजय भी प्राप्त कर ऊपर उठ सकता है या फिर अधोगति को भी प्राप्त कर सकता है।

दमन में हम काम इच्छा या इन्द्रिय को समाज के भय से दबा देते हैं, तो वह वास्तव में दबती नहीं अन्तश्चेतना में जाकर अधिक क्रियाशील तथा प्रचंड हो जाती है, मन और शरीर में तरह-तरह के विकार उत्पन्न करती है जबकि संयम में वासना के कुफल को जानकर विवेक-विचार द्वारा ज्ञानाग्नि में दग्ध कर '**ज्ञानाग्नि-दग्ध-कर्माणं**' (गीता 4/19) उसे एक नयी और ऊंची दिशा दे जाती है जिससे वासना दबती नहीं रूपान्तरित हो जाती है।

दमन एक नकारात्मक प्रयास है जिसमें काम शक्ति को दबा दिया जाता है। इससे उसका प्रकृत्त मार्ग अवरुद्ध हो जाता है और जीवन में कोई ऊंचा लक्ष्य नहीं होने से कोई ऊंची दिशा दे नहीं पाते। मन तो काम इन्द्रिय में भटकता रहता है। समाज के भय या अपनी असमर्थता से पूरी नहीं कर पाते फलतः वह शक्ति भीतर ही भीतर उबलकर प्रबल हो जाती है और नाना विकारों को जन्म देती है जबकि संयम एक सकारात्मक प्रयास है जिसमें काम ऊर्जा को एक नयी ऊंची दिशा, नया मार्ग दे दिया जाता है इससे कामेच्छा स्वाभाविक रूप से रूपान्तरित हो जाती है।

मनुष्य का स्वभाव है जब कोई उसे महत्त वस्तु मिल जाती है, उसमें उसे रस आने लगता है तो छोटी वस्तु स्वतः ही छूट जाती है। जैसे शिशु को खिलौने से प्रेम होता है, उसके सामने खिलौने और दस हजार रुपये की गड्डी रखी जाये तो उसे खिलौने में ही रस है, रुपयों में नहीं, बालक को लट्टू, विलोर (कांच की गोलियां) में और खेलकूद में रस आने लगता है तो उसे शैशव की गुड़ियों में रस नहीं रहता। किशोरों को पतंगों में रस आने लगता है, युवक को जीवन संगिनी में रस आने लगता है, उसे पतंग, लट्टू में कोई रस नहीं, प्रौढ़ गृहस्थों को अर्थोपार्जन में रस मिलने लगता है। वह अपनी पत्नी, अपने भोजन तथा संतानों की भी उपेक्षा करके दूर-दूर स्थानों पर विकट मार्गों में अर्थोपार्जन के लिए जाता है। जिस प्रकार बड़े रस के आने पर छोटा रस अपने आप छूट जाता है, उसी प्रकार धर्म की पुकार पर, राष्ट्र की रक्षा की पुकार पर अर्थ का आकर्षण भी छूट जाता है। भामाशाह ने जीवनभर के अपने पूर्वजों की सारी कमाई राणाप्रताप के चरणों पर चढ़ा दी। इसी प्रकार जिसे बौद्धिक कार्य, साहित्य निर्माण, कविता आदि में आनन्द आने लगता

है वह अर्थ की परवाह नहीं करता, जिन्हें संगीत आदि में आनन्द आता है उनका मन सांसारिक विषयों की ओर नहीं जाता। और जिसे भजन, ईश्वर में आनन्द आने लगता है उन्हें विषय रस नहीं सुहाते। गुरु नानकदेव कहते हैं—

वो रस आवा यह रस नहीं भावा।

ब्रह्मानन्द रस चख लेने के बाद विषय रस तनिक भी मन को मोहित नहीं कर सकते। अतः मन को विषय रस से मुक्त करने का सबसे श्रेष्ठ उपाय है मन को उससे श्रेष्ठ उससे ऊंचा कोई अमर रस पिला दो।

एक बार श्री रामानुजाचार्य ने श्री रङ्ग क्षेत्र में वेश्या के रूप सौन्दर्य पर आसक्त व्यक्ति को देखा। वह वेश्या के सामने उसकी ओर मुंह करके छाता लगाये हुए था और पीछे की ओर चलता था। आचार्य ने उसके ऊपर कृपा की और अपने निवास स्थान पर बुलाकर अपने आराध्यदेव के ऐसे अलौकिक सौन्दर्य दर्शन करा दिया, जिस पर उसने अपना जीवन, अपना सर्वस्व ही न्योछावर कर दिया और प्रभु के चरणों का सेवक बन गया। आचार्यगण इसी प्रकार सामान्य मनुष्यों को ऊपर उठा देते हैं।

एक बार साधु स्थाणुदेव लीलाराम वास्वानी को कुछ विद्यार्थी शरारत में उन्हें सैर के बहाने, एक सुन्दर नर्तकी के घर ले गये तथा उन्हें बिठाकर स्वयं चम्पत हो गये। वास्वानीजी के भोले सौन्दर्य को देखकर उस वेश्या की कामाग्नि और प्रदीप्त हो उठी। वह उस चरित्रवान युवक के अति निकट बैठ गई। जिससे वह अपने इत्र लगे हुए वस्त्रों की महक से वास्वानीजी को आकर्षित कर सके, किन्तु वास्वानीजी एक मूर्ति के समान स्थिर बैठे रहे। वेश्या ने आसक्ति की वाणी में कहा, क्या मेरे अन्तर् के भवन में नहीं आयेंगे? वास्वानीजी ने कहा—मैं पहले से ही अन्तर्भवन में हूं। वेश्या ने अपने गात्रों को नग्न करते हुए कहा, क्या मैं सुन्दर नहीं हूं? वास्वानीजी ने अर्धनिमीलित नेत्रों से कहा—प्यारी बहन! जिस सौन्दर्य को तुम बार-बार दर्पण में देखकर दर्पित होती रहती हो वह हाड़-मांस का सौन्दर्य पलभर में नष्ट हो जाने वाला है। मांस मांस को ही आकर्षित कर सकता है। मांस सदा मांस के लिए आहार बन जाता है और काम की अग्नि में भस्म हो जाता है, किन्तु एक ऐसा सौन्दर्य भी है जो कभी म्लान नहीं होता, यह तुम्हारे भीतर अज्ञात सौन्दर्य है उसको देखो तब तक जब तक कि तुम्हारी सारी वासनायें जल न जाये और तुम्हारा शरीर आत्मा का दिव्य मन्दिर न बन जाये। वह वेश्या इन दिव्य वचनों से अभिभूत हो गई। अपने चमकते हुए नेत्रों से वास्वानीजी ने कहा—आओ बहन! हम दोनों प्रभु का पावन नाम गायें। दोनों भजन गाने लगे। मित्र लौटकर के आए यह दृश्य देखा तो बड़े लज्जित हुए।

इसी प्रकार की कथा वासवदत्ता नर्तकी एवं उपगुप्त बुद्ध के शिष्य की है—वासवदत्ता मथुरा की नर्तकी थी जो रूप और कला, दोनों में ही अद्वितीय थी। उसे नगर के सभी पुरुष चाहते थे पर वह किसी को नहीं। एक युवा भिक्षु उपगुप्त को देखा—उस पर आकर्षित हुई, भवन में आने के लिए आमन्त्रित किया, पर भिक्षु ने कहा—अभी आपसे मिलन का समय नहीं आया है। उचित समय पर मैं आपके पास आऊंगा। और आगे बढ़ गये। कालान्तर में वासवदत्ता पर एक मूर्तिकार की हत्या का मिथ्या आरोप लगा, उसकी सम्पत्ति जब्त कर उसे मथुरा से निकाल दिया। लोगों ने हत्यारिन जानकर उसको अपमानित और पत्थरों से जख्मी कर दिया। वासवदत्ता ने श्मशान में आश्रय लिया पर लोगों ने उसका वहां भी पीछा नहीं छोड़ा और उस पर थूकते-पत्थर मारते। उस समय उपगुप्त आये। वासवदत्ता ने कहा, जब सारा मथुरा मेरे पर न्योछावर होता था तब केवल तुमने ठुकराया था। अब मेरा शरीर घावों से जर्जर हो रहा है, सब मुझसे घृणा करते हैं, ऐसे में क्यों आये तुम? उपगुप्त ने मुसकरा कर कहा, उस समय तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं थी, वासवदत्ता! अब है। चलो विहार में चलें। उपगुप्त ले गये। उनकी सेवा-शुश्रूषा से वासवदत्ता निरोग हो गयी। पर उदास थी। मेरा रूप जाता रहा। कोई मेरी ओर आंखें उठाकर देखेगा भी नहीं। तुमने जो सौन्दर्य खोया है उससे भी बड़ा एक सौन्दर्य है। उसे तुमने जाना नहीं है, वह अन्तर् का सौन्दर्य है, जो कभी म्लान नहीं पड़ता। अपने अन्तर् का दीप जलाओ तुम्हें शान्ति मिलेगी। तब वह भगवान् बुद्ध के शरणागत होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया।

भगवान् महावीर मुण्डित मस्तक नगर से जा रहे थे। ऊपर से आवाज आयी अभी तो जीवन का प्रभात है। तब भगवान् महावीर ने मुंह नीचे किये हुए कहा—पता नहीं कब जीवन की संध्या आ जाये।

स्वामी रामतीर्थ प्रतिदिन लाहौर में अनारकली बाजार से होकर रावी नदी में स्नान करने जाते थे। एक दिन कुछ लोग हस्ताक्षर संग्रह कर रहे थे कि अनारकली बाजार से वेश्याओं को उठाया जाये। जब वे स्वामी रामतीर्थ से हस्ताक्षर के लिए आग्रह करने लगे तब स्वामीजी को यह जानकर अचम्भा हुआ कि उनके दैनिक आने-जाने के मार्ग में दोनों ओर वेश्याओं के चौबारे हैं जिसका उन्हें अभी तक ज्ञान ही नहीं था।

श्रीरामकृष्ण परमहंस वेश्याओं को देखकर ही मां मां कहकर पुकारने लगते थे। स्वयं अपनी विधिवत् प्रणीता पत्नी में भी वे भगवती का दर्शन करते थे।

बालब्रह्म ज्ञानी शुकदेव नग्नावस्था में जा रहे थे। स्नान करती हुई महिलाओं को देखकर भी न उनके मन में कोई विकार हुआ, न महिलाओं के मन में। इसी

तरह मीराबाई, रमण महर्षि, आचार्य शंकर आदि इसी कोटि के महापुरुष थे जिनमें काम ऊर्जा का उदात्तीकरण इस मात्रा में हो गया था कि अचेतन मन में काम का बीज भी शेष नहीं बचा।

इसमें तीन प्रकार के पात्र आते हैं—एक तो जन्म से ही सिद्ध होते हैं। पूर्व जन्म में सिद्धि में कुछ कमी रह जाने से जन्म होता है जैसे रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि, शुकदेव, मीराबाई आदि आते हैं। दूसरे साधना के द्वार से सिद्धि तक पहुंचते हैं—बुद्ध, महावीर, स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द, ऋषि अरविन्द आदि आते हैं इनमें भी काम का उदात्तीकरण हो जाता है। तीसरे वे हैं जो जीवन में महान लक्ष्य को लेकर चलते हैं, समाज में आदर्श प्रस्तुत करते हैं, देश सेवा, समाज सेवा, परिवार सेवा, मानव सेवा में, विज्ञान की सेवा में, ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अपने आपको खपा देते हैं, व्यस्त कर देते हैं तो काम का उदात्तीकरण हो जाता है, रूपान्तरित हो जाता है अपने से बड़े लक्ष्य के प्रति। और यह सम्भव है इसकी पुष्टि मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में आधुनिक शोधों से भी होती है।

श्री राइट ने अनेकों उदाहरणों से यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि यदि कामुकता पूर्ण वातावरण एवं चिन्तन से दूर रहा जाये तो वह प्रवृत्ति स्वयमेव शिथिल या समाप्त हो जाती है। द्वितीय महायुद्ध में पकड़े गये बंदी सैनिकों तथा साइबेरिया के श्रम शिविरों में बंद लोगों का पर्यवेक्षण करने पर निष्कर्ष निकाला कि उनकी न केवल रति क्षमता वरन् वह इच्छा भी छूट गयी या समाप्त हो गयी। इसी प्रकार उन्होंने किन्हीं महत्त्वपूर्ण कार्यों में मनोयोगपूर्वक लगे व्यक्तियों के उदाहरण देते हुए बताया है कि उन्हें अपने चिन्तन की व्यस्तता में काम सेवन की न इच्छा होती है और न आवश्यकता प्रतीत होती है। सेनानायक, नाविक, पर्वतारोही, वैज्ञानिक, शोधकर्ता, अध्ययनपरायण व्यक्तियों की कामेच्छा बहुत स्वल्प होती है और वह भी तब तक जागृत नहीं होती जब तक व्यक्ति को वातावरण, संवाद अथवा स्वचिंतन से ही उस तरह की अतिरिक्त उत्तेजना न मिले।

आत्मा न नारी है न नर। ले. श्री आचार्य श्रीराम शर्मा, पृ. 102-104

नोबेल पुरस्कार प्राप्त फ्रेंच वैज्ञानिक डॉ. अलेक्सिस क्यारेल ने अपनी पुस्तक 'मैन दि अननोन' में कहा है—वैज्ञानिक, दार्शनिक या चिन्तक पति से उसकी पत्नी को अधिक दैहिक सुख की आशा नहीं रखनी चाहिये।

श्री डेविड राइट ने अपने परीक्षणों से यह सिद्ध किया कि कामवासना मनुष्य की स्वाभाविक एवं जन्मजात प्रवृत्ति नहीं है वरन् वह सामाजिक जीवन के प्रचलन द्वारा आरोपित है। उन्होंने पशुओं पर किये गये परीक्षणों से सिद्ध किया कि काम

सेवन के अभाव में कोई जन्तु हिंसक या समाज विरोधी नहीं बनता वरन् वह अपेक्षाकृत अधिक सौम्य हो जाता है। बंध्य बनाये गये बैल, भैंसे, घोड़े, बकरे, गधे आदि उन्मुक्त काम सेवन करने वाले अपने सजातियों की तुलना में अधिक शान्त प्रकृति के होते हैं। जबकि फ्रायड आदि का कहना यह है कि यदि मनुष्य को काम सेवन की छूट न मिले तो वह समाज विरोधी बन जायेगा।

यह बात उन्हीं लोगों में सही हो सकती है जो उच्छृङ्खल वातावरण में रह रहे हैं। साधु प्रकृति के संयमी, सदाचारी और ब्रह्मचारी को काम सेवन का अवसर न रहने पर भी न तो हिंस्र बनते हैं और न समाज विरोधी।

फ्रायड के शिष्य युंग एवं एडलर तो उनके विचारों से सहमत नहीं रह पाने के कारण उनसे अलग हो गये थे। स्वयं फ्रायड के अन्तिम जीवनकाल में अपने विचारों में परिवर्तन आने लगा था। फ्रायड अन्तिम समय में कहने लगा था मनुष्य वास्तव में क्या चाहता है वह स्वयं ही नहीं जानता है। धर्म के विषय में भी उसके विचार बदल गये थे। डॉ. भगवान दासजी अपनी पुस्तक 'एनशिएंट साइको सिन्थेसिस वर्सस मार्डन साइकोअनैलिसिस' में फ्रायड के अन्तिम भावों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं, 'मानव जीवन की सार्थकता किसमें है? यह प्रश्न अनेकों बार पूछा जा चुका है किन्तु इसका संतोषजनक उत्तर नहीं दिया गया- केवल धर्म ही इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है। घोर अंधकार के बीच जीवन की जो कुछ भी ज्योति दिखाई देती है, वह केवल आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवन का प्रकाश है।

इस प्रकार हम देखते हैं काम उदात्तीकरण स्वाभाविक रूप से हो जाता है जब जीवन में किसी महान लक्ष्य के प्रति समर्पित हो जाते हैं। पर इसमें जीवन पर्यन्त सावधान रहना आवश्यक है।

जो आदमी जितना व्यस्त है, कार्यों में लगा हुआ है, सही दिशा में ऊर्जा लगी हुई है वह गलत तरफ नहीं जा सकता। जो खाली बैठा हुआ है, गलत अन्न खा रहा है, गलत विचार कर रहा है, निश्चित बात है उसका पतन होगा। जो आदमी निरन्तर कर्मशील, परमात्मा की भक्ति को मन में बसाकर कार्यों में लगा हुआ है, हर समय जन कल्याण सोचता है, पतन की सम्भावना वहां नहीं होती है। खाली मन शैतान का घर है। जो खाली बैठा है वहां शैतान अपना कार्य करेगा। अतः व्यस्त रहना बहुत जरूरी है।

साथ ही जीवन पर्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है। एक महात्मा से भक्त ने पूछा—क्या आपकी निभ गयी। बाद में बताऊंगा...। जब भी पूछे बाद में बताऊंगा। बिना उत्तर दिये ही उनका शरीर छूट गया। वह भक्त बार-बार उलाहना

देने लगा कि बिना उत्तर दिये चले गये। अन्य सभी ने कहा, मृत्यु पर किसी का वश है क्या? पर वह उलाहना देता रहा तो गुरुजी उठकर बोले—निभ गयी। भक्त ने कहा, यह बात तो पहले भी बोल सकते थे। महात्माजी ने कहा, उस समय प्रारब्ध शेष था। कहीं राजा भरत की तरह फिसल न जाऊं इसकी क्या गारंटी। अब मेरा प्रारब्ध शेष हो गया। अब कह सकता हूं—निभ गयी। यह कहकर महात्माजी पुनः मर गये। अतः जीवन पर्यन्त सावधानी बरतना आवश्यक है।

निष्कर्ष स्वरूप कह सकते हैं भारतीय परम्परा न अविवेकी काम भोग का समर्थन करती है न अविवेकपूर्वक काम दमन को स्वीकारती है। विवेकपूर्वक यथायोग्य आहार-विहार शुभ, एवं लोक मंगलकारी होता है जो हमें तृप्ति देने के साथ-साथ आनन्द की ओर, पूर्णता की ओर, मुक्ति की ओर ले जाने वाला होता है। आहार का अर्थ रोटी से, भोजन से है, विहार का अर्थ बेटी से है। शुद्ध और मर्यादित आहार-विहार (Food & Sex) भारतीय जीवन-पद्धति का मूल आधार है। पश्चिम में इन दोनों पर ध्यान नहीं दिया गया है। न यथोचित आहार के ऊपर ध्यान दिया गया है और न विहार पर। इसलिए पात्यव्रत का कोई पर्याय शब्द अंग्रेजी भाषा में उपलब्ध नहीं है। क्योंकि उनके यहां न शुद्ध आहार का विचार है और न शुद्ध विहार की कल्पना है।

शंकराचार्यजी आहार का व्यापक अर्थ करते हैं, केवल रसना इन्द्रिय के आहार से न लेकर समस्त अन्तर-बाह्य इन्द्रियों के आहार से लिया है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध बाह्य इन्द्रियों के आहार हैं, ऐसे ही संकल्प, चिंतन, मन और बुद्धि के आहार हैं। इन सबसे हमें संस्कार प्राप्त होते हैं। ये सभी शुभ, शुद्ध और मर्यादित होना चाहिये। यानी हम शुभ देखें, शुभ सुनें, शुभ का स्पर्श करें, शुभ आहार करें, शुभ घ्राण करें, शुभ बोलें, शुभ विहार करें, शुभ संकल्प करें, शुभ चिन्तन करें। शुभ श्रवण-मनन, निदिध्यासन करें। इस प्रकार हिन्दू जीवन पद्धति शुद्ध और मर्यादित आहार-विहार पर टिकी हुई है।

जिनकी पूर्व जन्म की साधना है, मानसिक स्तर, विवेक का स्तर ऊंचा है, और किसी बड़े लक्ष्य के प्रति समर्पित हैं उनके लिए पूर्णतया काम त्याग सम्भव है, सहज है। तथा आनन्दप्रद है। क्योंकि हमारा वास्तविक स्वरूप तो पूर्णकाम-आप्तकाम है।

मन

यह मन ही बन्धन का कारण है और यह मन ही मुक्ति का कारण है। हम शान्ति क्यों चाहते हैं? शान्ति चाहने वाला कौन है? मन किसको कहते हैं? इनको समझे बिना मन की शान्ति प्राप्त करना असम्भव है। हमारे यहाँ सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण और अन्तःकरण आते हैं। अन्तःकरण में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सम्मिलित हैं।

यह मन अनेक प्रकार की वासनाओं से युक्त होता है। जब तक मन के अन्दर मलिन वासनाएँ रहती हैं तब तक मन अशान्त रहेगा, चंचल रहेगा। इसलिए मन की मलिनता को हटाने के लिए सदाचार (कर्म) करना आवश्यक है और सदाचार करने के लिए एक निश्चय आवश्यक है। निश्चय करने वाला तत्त्व बुद्धि है। इसलिए जब तक बुद्धि के सामने एक लक्ष्य नहीं आयेगा, तब तक मन को अंकुश में रखना सम्भव नहीं होगा। बुद्धि के परे भी आत्मतत्त्व है। इसलिए आत्मतत्त्व के द्वारा, जो कि मन और बुद्धि से भी श्रेष्ठ है, मन को एक सृजनात्मक अभ्यास और वैराग्य के प्रयोग द्वारा शनैः-शनैः करके उन्नत विषयों की तरफ ले जाएँ तो मन धीरे-धीरे निर्मल होता हुआ आत्म-चैतन्य को प्रतिबिम्बित करने लगेगा। शान्ति आत्मा का स्थायी भाव है, स्थायी रूप है और आत्मा सर्वव्यापक है। सृष्टि में सर्वत्र एक शान्ति झर रही है, झिलमिला रही है, हँस रही है, खिल रही है, खिलखिला रही है। मन की चंचलता के कारण उसका अनुभव हो नहीं पाता। बुद्धि के आत्मोन्मुखी होने पर मन शान्त होने लगेगा।

मन का निरीक्षण करके देखना पड़ेगा, कैसे यह जाग्रत् में व्यवहार करता है, कैसे यह इन्द्रियों से जुड़ा हुआ रहता है, कैसे यह स्वप्न में एक सृष्टि की रचना करता है और कैसे गहरी नींद में जाकर एक अव्यक्त में लीन हो जाता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और बचपन से लेकर आज तक मन किस प्रकार से बीज की तरह अँकुराता है, धीरे-धीरे बढ़ता है, फैलता है और धीरे-धीरे संकुचित होने लगता है, पुनः बीज बनने लगता है। मन के इस स्वभाव को समझ करके सत्कर्म के द्वारा और ईश्वर की आराधना के द्वारा, इसको शान्त किया जा सकता है। गहरी प्रशान्ति के अन्दर इसको ले जाया जा सकता है। मन का शान्त रहना उसका स्वयं का स्वभाव है। अशान्त रहना मन के अन्दर आगन्तुक भाव है।

साभार 'जीवन रहस्य'
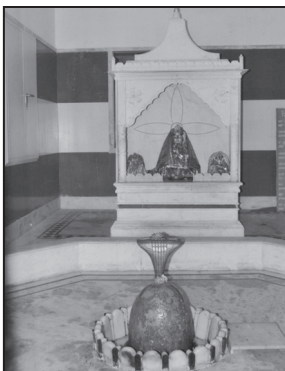
भक्तानन्द शिव मन्दिर
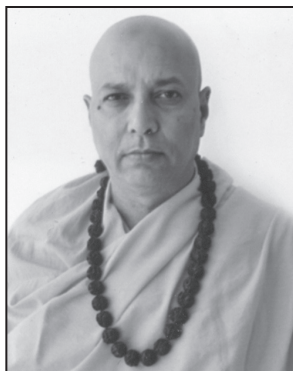
स्वामी संवित् सुबोधगिरि

पन्द्रह अक्टूबर 1956 (विजयादशमी) को जन्मे स्वामी संवित् सुबोधगिरि ने दर्शन शास्त्र से एम.ए. (रांची विश्वविद्यालय 1980-81) कर अध्यात्म-साधना एवं भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति-परम्परा एवं राष्ट्रीय इतिहास के अध्ययन में पूर्णकालिक प्रवृत्त।

एकेडमी ऑफ इंडियन कल्चर के संस्थापक डॉ. हरवंशलाल ओबराय के मार्गदर्शन में सांस्कृतिक इतिहास एवं भारतीय धर्म-दर्शन-संस्कृति पर व्यापक कार्य।

स्वामी देवानन्द ब्रह्मचारीजी (प्रेम मन्दिर आश्रम, रिषड़ा) से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की दीक्षा और उनके सान्निध्य में साधना एवं स्वाध्याय—6 दिसम्बर 1992 से 12 मार्च 1999 तक। उन्हीं के निर्देश पर अनन्तश्री विभूषित पूर्वाम्नाय जगद्गुरु शंकराचार्य गोवर्धन पीठाधीश्वर स्वामी निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज के सान्निध्य में स्वाध्याय एवं साधना—प्रति चतुर्मास में 1993 से 2000 तक नियमित, फिर अनियमित।

सम्प्रति स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज से संन्यास दीक्षा ग्रहण कर उनके सान्निध्य में स्वाध्याय, साधना एवं प्रकाशन का दायित्व निभाया—20 मार्च 1999 से 13 जून 2012 तक। डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र (पांच खण्डों 2688 पृष्ठों में) संकलित, सम्पादित एवं प्रकाशित किया परमपूज्य महाराजश्री के आशीर्वाद से।

14 जून 2012 को भैरवगिरि मठ के महन्त परम श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानन्दगिरिजी महाराज एवं श्री लालेश्वर महादेव मन्दिर शिवबाड़ी के महन्त परम पूज्य स्वामी संवित् सोमगिरिजी महाराज, दोनों ने संयुक्त रूप से नृसिंह भवन संन्यास आश्रम, भक्तानन्द शिव मन्दिर भीनासर (बीकानेर) के महन्त पद का दायित्व देकर उस पर अभिषिक्त किया।

प्रकाशन

डॉ. हरवंशलाल ओबराय समग्र को खण्डशः विषयानुसार 26 पुस्तकों में प्रकाशित किया जिसमें दो पुस्तकें सुबोधगिरि की हैं। समग्र में प्रकाशित चार पुस्तकों में डॉ. ओबराय के साथ सुबोधगिरि सहलेखक हैं। समग्र से अतिरिक्त स्वयं सुबोधगिरि की चार और पुस्तकें भी प्रकाशित—

(1) राष्ट्रीय समस्या और समाधान (प्रथम संस्करण, पृ. 88)
(2) राष्ट्रीय समस्या और समाधान (द्वितीय संस्करण, पृ. 312)
(3) गीता का पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष (गीता का पहला और दूसरा अध्याय)
(4) भक्तियोग (गीता का बारहवां अध्याय)
(5) भारतीय संस्कृति, पश्चिमी सभ्यता और विज्ञान
(6) भारतीय परम्परा में काम पुरुषार्थ
(7) योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण (संयुक्त)
(8) गीता की विश्वव्यापी प्रतिष्ठा (संयुक्त)
(9) भारतीय परम्परा में पुरुषार्थ चतुष्टय (संयुक्त)
(10) भारतीय परम्परा में नारी और मातृत्व के पंचविध रूप (संयुक्त)

पूरे मठ का जीर्णोद्धार सम्पन्न हुआ। जन सहयोग से मन्दिर के लिए नये भवन का निर्माण, नव-निर्माण व जीर्णोद्धार और अन्य नये आयाम भी जुड़ते जा रहे हैं। यू.आई.टी. अध्यक्ष श्रीमान् मकसूद अहमदजी के सहयोग से आश्रम के बाहर सीसी रोड का निर्माण हुआ। सन्त कुटीर का निर्माण श्री तरुण कुमार सोलंकी एवं श्रीमती सुशीला देवी के सहयोग से हुआ। विवेकानन्द वाचनालय का निर्माण (श्रीमान् गोपाल जोशी के) विधायक कोटे से हुआ। सांस्कृतिक भवन का निर्माण कार्य चल रहा है (श्रीमान् अर्जुनराम मेघवाल के) सांसद कोटे से। श्री मूलचन्द डागा के सहयोग से प्याऊ का निर्माण हुआ।

आगामी योजनाएं और कार्यक्रम

शौचालय, स्नानघर, रसोड़ा, भण्डार, मुमुक्षु आवास का निर्माण; सांस्कृतिक भवन का निर्माण कार्य पूर्ण होने के पश्चात् लॉन और बगीचा विकसित करना। सांस्कृतिक भवन में नियमित योग कक्षाओं का संचालन; साप्ताहिक बाल-संस्कार-केन्द्र संचालन; वर्ष में दो बार चिकित्सा शिविर का आयोजन। इसके अलावा भी छोटे-छोटे सेवा कार्य करना। भजन, सत्संग और देव-आराधन की व्यवस्था करना। इन सबके लिए जन सहयोग अपेक्षित है।

मो. 09413769139